साहित्यकारों से साक्षात्कार

डॉ० विजयानन्द

प्रकाशक

जयभारती पब्लिशिंग हाउस,

इलाहाबाद

Interview with Writers

By— Dr. Vijayanand

मूल्य- पुस्तकालय संस्करण ५० रुपये मात्र
विद्यार्थी संस्करण २० रुपये मात्र

प्रकाशक	**जयभारती पब्लिशिंग हाउस** ४४७ पीली कोठी कीडगंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)
लेखक	**डॉ० विजयानन्द**
संस्करण	सन् **1996** ई०
लेजर कम्पोजिंग	**त्रिवेणी कम्प्यूटर्स** १६४१ नयागाँव, अल्लापुर, इलाहाबाद-६
मुद्रक	**भार्गव आफसेट** बाई का बाग, इलाहाबाद

सुप्रसिद्ध साहित्यकार

प्रो० यू० आर० अनन्तमूर्ति

जी को

सद्भाव सहित

ए

व

म्

कुशल साहित्य चिन्तक

श्रीयुत विशन टण्डन

जी को

सादर

—डॉ० विजयानन्द

प्ररोचना

हिन्दी साहित्य में साक्षात्कार (भेंटवार्ता, इण्टरव्यू) विधा कोई पुरानी नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि सन् १६२० ई० में पण्डित स्वर्गीय बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसकी शुरुवात कर दी थी। अन्य विधाओं की अपेछा बहुत कम साहित्यकार इसमें सक्रिय हुए। परिणाम स्वरुप साक्षात्कार विधा में गिने-चुने ग्रन्थ ही प्रकाश में आये।

साक्षात्कार विधा पर आधारित कतिपय शोध ग्रन्थों के अनुसार इसमे लगभग डेढ़ सौ लोगों ने कार्य किया। वैसे चतुर्वेदी जी ने इसे विधा बनवा ही दिया था। सन् १६५२ ई० में स्वर्गीय पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश' ने अपना साक्षात्कार (इण्टरव्यू) संग्रह प्रकाशित करवाया। इससे इस विधा को काफी बल मिला और यह साहित्य मे पूर्णतः मान्य हो गई।

साक्षात्कार का वास्तविक अर्थ किसी महान् साहित्यकार, दार्शनिक धर्मज्ञ, राजनीतिज्ञ आदि से मिलकर उसके विषय के अनुरुप महत्तवपूर्ण प्रश्न पूछ, प्राप्त उत्तरों को व्यवस्थित ढंग से लिपिबद्ध करके उसकी प्रस्तुति से है। जिससे विद्वानों के साथ सामान्य पाठक भी उसका रसास्वादन कर सके। प्रश्नोत्तरों के प्रस्तुतीकरण में नाटकीयता अपनें आप ही उभर आती है। इसमें व्यक्ति की रूचि, बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता, स्वभाव आदि का भी दृश्यांकन होता है।

प्रस्तुत साक्षात्कार सग्रह हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकारो पर आधारित है मैने सामायिक समस्याओं को मद्देनजर रखते हुए साहित्यकार एव उसका दायित्व विवादास्पद रचनाओं का पुन. मूल्याकन, गुटबाजी, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, उपेक्षित साहित्य की खोज, आलोचकों की कमी और उनकी सीमाए, नारी समस्या, पुरस्कार आदि से सम्बद्ध प्रश्न पूछ कर उस विषय विशेष में दखल रखने वाले इन महान् साहित्यकारों से उत्तर प्राप्त किये, जो समय-समय पर साहित्यिक पत्रिकाओं एवं पत्रों (अखबारो) में भी प्रकाशित होते रहे हैं।

सभी साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय, साक्षात्कार का संक्षिप्त परिवेश प्रस्तुत करने के बाद मैनें प्रश्न और उत्तर के रूप में उनके विचारों को लोकार्पित किया है। चूँकि मैने जब साक्षात्कार लेना शुरू किया तो ऐसे विशद ग्रन्थ की प्रकाशन योजना मेरे मस्तिष्क में नहीं थी। अतः किसी भी साक्षात्कार की सही तिथि याद नही है, हाँ इतना है कि ये सभी साक्षात्कार सन् १९८५ ई० के बाद लिए गये हैं। यह संकलन कैसा बन पड़ा है, इसका निर्णय मै अपने सहृदय पाठकों, आलोचकों एवं शोधछात्रों पर छोड़ता हूँ।

पुस्तक प्रकाशन के लिए जयभारती पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद का हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ।

सुझावों का स्वागत है।

-: इति शुभम् :-

(डॉ० विजयानन्द)

दशहरा
सं० २०४८

7/219 ए.डी.ए. आई. ...
आ० कि० ओ० 3 स्ट्रीट नी इलाहाबाद (उ० प्र०)
पिन 221506

साहित्यकार क्रम

अमृतलाल नागर

पण्डित अमृतलाल नागर हिन्दी के सुप्रसिद्ध रचनाकारों में से
म १७ अगस्त १६१६ ई० को गोकुलपुरा, आगरा (उ० प्र०)
पिता का नाम पं० राजाराम नागर एवं माता का नाम श्रीमती
। एक उपलब्ध प्राचीन वंशावली के अनुरूप उत्तर प्रदेश में
। के प्रथम पूर्वज श्री शिवराजी नागर थे। नागरजी उनकी
द्भूत हुए।

ε ई० में जब साइमन कमीशन लखनऊ आया, तो उसके
निकाले गए जुलूस पर भयंकर लाठी चार्ज हुई। उस करुण
की प्रथम काव्य रचना ने निबद्ध किया। जिसकी एक पंक्ति
लाठी खाया करे, कब लौं कहों जेल भरा करिए' जो लखनऊ
'दैनिक आनन्द' में छपी। सुप्रसिद्ध बंगला कथाकार शरतचन्द
१६३४ में भेंट होनी, नागरजी के जीवन की महत्वपूर्ण घटना

थी उनके प्रभाव से प्रभावित होकर वे हिन्दी साहित्य लेखन मे अवतरित हुए

पिता की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने सन् १९३५ ई० में आल इण्डिया यूनाइटेड इश्योरेंस कम्पनी में १८ दिनों तक डिस्पैचर, दिसम्बर १९५३ से मई १९५६ तक आकाशवाणी मे नाट्क प्रोड्यूसर पद पर कार्य कर स्वेच्छा से त्याग पत्र दे दिया। १९४० से सन् १९४७ ई० तक कोल्हापुर, बम्बई तथा मद्रास के फिल्म क्षेत्र में काम किया। सन् १९४८ ई० से वे लगातार लखनऊ मे रहकर स्वतंत्र लेखन करने लगे।

नागर जी का हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, बंगला, तेलगु आदि भाषाओं पर काफी अच्छा अधिकार था। ये भारतीय जननाट्य संघ, इंडो सोवियत साम्कृतिक संघ, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी- नई दिल्ली हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी आदि से भी सम्बद्ध रहे। उन्होंनें रूस तथा मारीशस की सांस्कृतिक यात्रा भी की।

इन्हें सं० २०१५-१८ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा का बटुक प्रसाद पुरस्कार, सन् १९६२-६३ मे उ० प्र० शासन का प्रेमचन्द पुरस्कार, सन् १९७० ई० में सोवियत लैण्ड पुरस्कार, सन् १९७२ में मध्य प्रदेश शासन को- वीर सिह देव पुरस्कार, सन् १९८५ ई० में पुनः उ० प्र० शासन के सर्वोच्च 'भारत-भारती' पुरस्कार आदि से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य साहित्यिक सांस्कृतिक सस्थाओ ने इस विभूति को सम्मानित कर स्वयं को गौरवान्वित किया।

नागरजी ने कहानी संग्रह, उपन्यास, रिपोर्ताज संस्मरण, निबन्ध, हास्य-व्यग आदि विधाओं तथा हिन्दी में संवाद लेखन भी किया। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है:- वाटिका, अवशेष, पांचवाँ दस्ता, एटमबम, आदमी नहीं, एक दिल हजार अफसाने, महाकाल, सुहाग के नूपुर, अमृत और विष, मानस का हंस, नाच्यौ बहुत गोपाल, खंजन नयन, गदर के फूल, सात घूंघटवाला मुखड़ा, ये कोठेवालियाँ, जबाबी मसनद आदि लगभग अस्सी पुस्तकें।

श्री नागर जी अपने शहर लखनऊ में अविरल स्वतंत्र लेखन कर रहे थे। उनका मुहल्ला चौक साहित्य का चौक बना हुआ था। मगर नियति के क्रूर हाथों ने २३ फरवरी (महाशिवरात्रि के दिन) १९९० को उन्हें अपनी गिरफ्त मे ले लिया।

परिवेश

यह मेरी लखनऊ की पहली यात्रा थी। लखनऊ में किसी से परिचय नही

था....। सुबह ही धकधक् करती रेल ने मुझे चारबाग स्टेशन पर लाकर खड़ा कर दिया। मुझे यह भी नहीं मालूम था कि स्टेशन से बाहर निकलने का रास्ता किधर है। हृदय भी धक्-धक् कर रहा था। मैं गाड़ा के डिब्बे से उतरा, मात्र बैग लेकर। रात को मैने तौलिया निकालकर सीटपर बिछा दिया था, जिस पर मुझे बैठने का तो ख्याल था, परन्तु उतर कर समेटनें का नही। मैने टी०टी० से पूछकर और उसे टिकट दिखाकर जब स्टेशन से बाहर निकला......तो याद आया.......लौटकर पुनः देखा......किसी ने कृपाकर दी थी! तौलिया वहां नहीं थी।

मन घबड़ाया........वाह रे लखनऊ। आते ही आते चूना लगा दिया। फिलहाल इन सबको भुलाकर मैं टेम्पू स्टैण्ड पर पहुचाँ। वहाँ से विधान सभा मार्ग पर चल पड़ा। कुछ ही मिनटों में मैं दारूलशफा में था। मेरे मित्र जो यहॉ विधायक थे। मैं उनका नम्बर पूछकर उनके घर गया.......पता चला, वे भी नहीं हैं। एकदम हालत खराब.........मैं गाँधी पार्क में आया........बिना नहाये अन्न जल नही ग्रहण करता था, पूजा करनी थी........। पार्क के सामान्य से नल पर मैनें हल्का स्नान किया। नवम्बर का महीना था, वैसे भी बदन कॅपा देने वाली ठंडी थी।

मैं नल के बगल में ही पूजा करने बैठ गया। कुछ ही मिनटों में एक माली आकर बड़बड़ाने लगा......परन्तु मुझे प्रतिवाद न करता देख वह लौट गया.......मुझे आज तक समझ में नहीं आया........आखिर मुझसे गलती क्या हो गई थी.......। फिलहाल जब मैं पूजा से उठा कपड़े पहने और काँख मे बैग दबाकर एक चाय की दुकान पर पहुँच गया। नाश्ता किया.......चाय पी.. । इस दुकान ने न जाने कैसे मुझे काफी प्रभावित किया। यहाँ काम करनें वालो ने बड़े आदर से प्रत्येक तरह की बात की.......इलाहाबाद वालों की तरह अँकड़ नही दिखाई।

शायद अब अशुभ क्षण बीत चुके थे। शुभ ग्रहों की शुरूआत हो गई थी। मेरे मन को यह सोचकर तसल्ली हुई। लेकिन अब भी मन में कुछ न कुछ भय व्याप्त था। मुझे याद आया.......आज दिनभर में ही मुझे सभी काम निपटा लेनें हैं........रात को रूकनें का ठिकाना नहीं था......। किसी लेखक के सिर पर बोझ बनना मुझे नहीं भाता। परन्तु किसी के दबाव को रोक भी नही पाता था। यही कारण था कि इस लखनऊ यात्रा की यह प्रथम रात्रि पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के घर गुजारनी पड़ी थी, उनके सहयोग से लखनऊ के तमाम लेखकों से मिलने का सुयोग भी मिला था। यह तो रात की बात थी, परन्तु चाय के दुकान की बात को छोड़कर मैंने टेम्पू पकड़ी और उत्तर प्रदेश हिन्दी

सस्थान गया

वहाँ से अमृतलाल नागर जी के घर का गाइडेंश लेकर मै चल पड़ा चौक लखनऊ। परन्तु मन में भय व्याप्त था.....क्या चौक इतना छोटा होगा कि किसी से पूछ लेगें और पता चल जायेगा? कि नागर जी कहाँ रहते हैं? न घर का नम्बर न किसी सडक का नाम. बस केवल चौक लखनऊ..... छोटे से चौराहे पर टेम्पू वाले ने ब्रेक लगाया...... यही चौक है! मैं आकस्मिक चौक का नाम सुनकर चौंक गया।

मै झटके से नीचे उतरा, उसे पैसे दिए और एक पान की दुकान पर टपक गया। वहाँ दो चार पान खाने वाले खड़े थे। मैने वहाँ नागर जी का घर पूछा, दुकानदार तो चुप था मगर एक महाशय पान चबाते हुए दाँतो और ऐंगुर की तरह लाल-लाल होठों से कुछ बुदबुदाए......मैंने उनकी आवाज तो नही सुनी, परन्तु उनके हाथ का इशारा समझ कर उस सँकरी गली में चल पड़ा। कुछ ही देर की पदयात्रा के बाद, उधर से आ रहे एक वयोवृद्ध पदयात्री से मेने फिर वही प्रश्न पूछा। उन्होंने बाँयी तरफ एक चौड़े दरवाजे की ओर संकतें करते हुए कहा- यही हैं।

मेरी प्रसन्नता की सीमा नही रही...... उन्हें धन्यवाद देकर मै आगे बढ़ा........दो चार सीढ़ियाँ चढ़ी, फिर उस बादशाही जमाने की तरह लम्बे चौडे लकड़ी के हरे दरवाजे के समीप आ गया। मैने एक नजर उनके भवन के बाहरी नाकनक्श पर डाली। पत्थरों की नक्काशी से मैं बिमोहित होकर उसकी ऊपरी बनावट को घूरनें लगा......। यह भवन नागरजी की पैत्रिक रईसी का परिचय दे रहा था। मैने दरवाजे के दाहिनी तरफ लगी कालवेल को दबाया........घन्टी टिनटिना उठी........। कुछ ही देर, में कौन है? आवाज आयी, और किसी ने उस दरवाजे के बीच का छोटा दरवाजा खोला......... यह एक छरहरे बदन की सुन्दर वयस्क महिला थी। उन्होंने मुझसे पूछा- किससे मिलना है? मैंने नागर जी का नाम लिया, और मुझे उस महिला ने अपने पीछे कर लिया, पुराने पत्थरो के बने उस लम्बे चौड़े आँगन के तीनों तरफ शानदार कमरे बने थे। वे सामने बॉये कमरे में जाने का संकेत कर स्वयं किसी बगल के कमरे में घुस गई। उन्होंने नागर जी से मेरा परिचय भी नहीं कराया, मैं अवाक् था........। पर हिम्मत कर उस कमरे के दरवाजे के अन्दर घुसा।

देखा.......एक सत्तर-अस्सी वर्षीय व्यक्ति कुछ, बड़बडाते हुए किताबे पलट रहा था।

मैंने साहस बटोर कर दोनों हाथ जोड़े, 'प्रणाम्' शब्द का उच्चारण किया।

उनकी अपनी तन्द्रा टूटी, और मुझे घूरते हुए पूछे- किससे मिलना है? मैने कहा आपसे........? मैं इलाहाबाद से आ रहा हूँ। उन्होंने मुझे बुलाकर अपने बगल के सोफे पर बैठा लिया। मैंने अगल-बगल दृष्टि दौड़ाई। कमरे का सौन्दर्य निराला था। किताबों से ठसाठस भरी आलमारियां, किनारे एक तरफ लगा टेलीफोन, जो स्टूल पर धरा था। उस पर थी किताबें। उनके सिरहाने जिस बिस्तर पर वे सोते, उसके अगल-बगल किताबें ही किताबें........। अजीब आभा थी इस कमरे की। मैं कुछ देर तक इन्ही विचारों में मग्न रहा। तब तक उन्होने कहा- भई, कैसे आना हुआ? मैने बैग से निकालकर इलाहाबाद से प्रकाशित एक साहित्यिक पत्रिका दी, और कहा- मै इस पत्रिका का सहयोगी हूँ। काफी दिन से निकल रही है। मैनें पुस्तकालयो मे आपका काफी साहित्य पढ़ा है, अतः इसमें (पत्रिका) प्रकाशन के लिए आपसे साक्षात्कार लेने आया हूँ।

एक ही साँस में मैं इतनी बात कह गया। उन्होने पत्रिका उल्टी-पल्टी, उसके छपाई की प्रशस्ति की, और फिर कहा- ठीक है, अपने प्रश्न, कलम, कागज निकालिए, इतना कहकर वे बिस्तर से उठकर कमरे के बाहर आये। मै अचम्भित था। परन्तु कुछ मिनटो में ही वह छवि पुनः अपने आसन पर आसीन हो गई। उन्होंने नीचे कटोरी में धरे भाँग का एक छोटा सा गोला लिया और एक गिलास पानी गटक गये।

मैं ज्यों ही कागज कलम सहेज कर अपनी इलाहाबाद में निर्मित प्रश्नावली का यह प्रथम प्रश्न पूछा-तब तक प्लेट में सजी कुछ बर्फियाँ, एक गिलास पानी और कुछ ही देर में नमकीन चाय आ गई। पानी तो मैंने अकेले गटका, मगर चाय नमकीन में उन्होंने साथ दिया........। इस तरह प्रथम प्रश्न में ही दस मिनट का विराम हो गया........लेकिन उसके बाद जब प्रश्नावली शुरु हुई तो अन्त तक चली........। आखिरकार जिस पत्रिका के लिए मैने यह साक्षात्कार लिया। उस पत्रिका के सम्पादक ने छापने की स्वीकृति देकर भी इसे नहीं छापा। बहुत दिनों बाद यह मेरी पत्रिका 'उदीयमान' में छपा।

साक्षात्कार

प्रश्नः- आपको लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली, और किन परिस्थितियो मे आपने लेखनी उठाई।

उत्तरः- मुझे लिखने-पढ़ने का शौक बचपन से ही था। मेरे घर 'सरस्वती' व 'गृहलक्ष्मी' नामक पत्रिकाएं आती थी। पढ़ने की रुचि तभी से थी। वैसे १६३६ मे जब मै कलकत्ता में शरद बाबू से मिला, तो उनसे काफी प्रभावित हुआ, और सुचारू रूप से लेखन भी उन्हीं की प्रेरणा से आरम्भ हुआ।

प्रश्न :- प्रेमचन्द की परम्परा क्या है? हिन्दी उपन्यास व कहानी जगत मे वह किस प्रकार ग्राह्य है?

उत्तर :- सही अर्थों में मुंशी प्रेमचन्द की परम्परा वह परम्परा है जो समाज को, समाज की तुच्छ चेतना को विशद रूप प्रदान करती है। प्रेमचन्द ने जिस पुरानी परम्परा को तोड़कर (अर्थात धनाढ्य राजा, रईस आदि को अपनी पुस्तकों का नायक बनाना) नई स्थिति लागू की कि समाज का तुच्छ गरीब मजदूर वर्ग भी रचनाओं का नायक बन सकता है। बशर्ते वह आदर्श पात्र का गुण रखता हो। उनकी पूस की रात, नमक का दरोगा, गोदान, कर्मभूमि इत्यादि इसके उदाहरण हैं। सामाजिक प्रथाओं, अन्यायों के प्रति भी उन्होंने लेखनी उठायी, यथा-छुआ-छूत, जाति-प्रथा आदि।

प्रश्न :- मुंशी प्रेमचन्द के सन्दर्भ में प्रस्तुत आपकी इस आख्या के बाद उनकी रचनाधर्मिता के प्रति और जानने की इच्छा हो रही है। कृपया इस आकांक्षा की पूर्ति करें।

उत्तर- मुंशी प्रेमचन्द का कहानी व उपन्यास जगत दोनों ही विशाल है, वे दोनों के सम्राट थे। उपन्यास व कहानियों में जो भी तथ्य उन्होंने उजागर किया, जिन-जिन सामाजिक कुप्रथाओं पर चोट की, वह एक आदर्श लेखनी की रचनाधर्मिता का ही प्रमाण है। उन्होंने कहानी जगत में हिन्दी कहानी की जो आधारशिला रखी उससे कहीं बेहतर उनके उपन्यास सही अर्थों में नैतिक आदर्शो के संवाहक रहे। उनकी यह रचनादृष्टि युग की एक महान खोज थी।

प्रश्न :- वर्तमान परिवेश में समाज के गिर रहे स्तर को तो आप देख रहे होंगे। घर परिवारों का टूटना किस कदर तीव्रतर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे साहित्यकारों का क्या दायित्व होना चाहिए?

उत्तरः- आज जो घर टूट रहे हैं, अपने खून का जन्मा, अपने भाई-बन्धु दुश्मन हो रहे हैं। इन सबका प्रमुख कारण अर्थ की ही समस्या है? सामाजिक परिस्थितियाँ है। वे सभी इसी पर आधारित है। एक आदमी कमाता है तो

उस पर चार खाने वाले हो जाते हैं। कुछ परिवारजन उसकी कमाई पर ऐश करते है, तो यह परिवार टूटने का कारण नहीं हुआ, तो क्या हुआ? ठीक उसकी तरह हमें कहानी व उपन्यास लिखते समय ऐसे नायक प्रतिनायकों का उपयोग करना चाहिए। हम साहित्यकार आखिर इससे कैसे निपटें, यह एक जटिल प्रश्न है, फिर भी इस बिखराव की भावना को उजागर कर समाप्ति की ओर ले जाना ही हितकर होगा.........।

प्रश्नः- वर्तमान साहित्यिक गतिविधियों से क्या आप सन्तुष्ट हैं। हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर क्या कुछ कहना चाहेंगे?

उत्तरः- मैं आजकल की सामाजिक गतिविधियो पर अपनी क्या सन्तुष्टि जाहिर करूँ। इसकी विभिन्न विधाओं में उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है। इस नश्वर ससार में भी जो साहित्य अस्तित्वान रहेगा। वह तो अमरता प्राप्त करेगा ही।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, उसकी स्थिति पहले से कुछ बेहतर ही है। हालाँकि भारत का प्रत्येक जन-मानस यह जानता है कि हम भाषा की गुलामी के तहत जी रहे हैं। स्वतन्त्रता को मिले चालीस वर्ष हो गये। परन्तु हम अब तक अंग्रेजी मानसिकता के गुलाम हैं। हम आज तक स्वतंत्र नहीं हुए। कोई भी साहित्यकार क्या कर सकता है? जब हमारे देश का नेतृत्व ही अंग्रेजी का है। विदेशों का भूत सवार है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के समक्ष अपनी मातृभाषा को नकारना नहीं चाहिए।

प्रश्नः- क्या वर्तमान राजनीति से साहित्यकार भी प्रभावित हैं। क्या साहित्य में भी राजनीति हो रही हैं? कृपया इस तथ्य को उजागर करें।

उत्तरः- मैं मानता हूँ कि वर्तमान राजनीति साहित्यकारों को प्रभावित कर रही है। चूंकि हमारे यहाँ अनेक राजनीतिक दल है और सबकी राजनीति अलग-अलग है और सब अपना अलग-अलग प्रभाव बनाये हैं। मेरा यह मानना है कि अगर राजनीति एक हो जाये। 'सबका दृष्टिकोण, एक सिद्धान्त' अपना ले, तो निश्चित है कि उसी तुलना में साहित्यकार भी पनपने लगेंगे। मैं साहित्य की राजनीति को असत्य मानता हूँ। जब तक समाज में उच्च शिक्षा स्थापित नहीं होगी। तब तक साहित्य के पाठक भी कम ही रहेंगे और तब तक राजनीति भी अच्छी तरह से पनप नहीं सकती, वह उजड़ जायेगी। सरकार अवश्य प्रयत्नशील है। उच्च शिक्षा के लिए, परन्तु अभी आशातीत सफलता नहीं मिली।

प्रश्नः- आपकी दृष्टि में लेखक, पाठक व प्रकाशक तीनों के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए?

उत्तरः- लेखक और पाठक का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, दोनों एक दूसरे को बढ़ाते हैं। पाठक लेखक की रचनाओं का अध्ययन करता है और लेखक

पाठकों की प्रतिक्रियाओं का। जहाँ तक प्रकाशक का सवाल है तो वह व्यवसायी होता है, इन तीनों के अलग-अलग कार्य होते हैं-लिखना, छापना और पढ़ना। यदि इन तीनों के सम्बन्ध समान हो जॉय, तो किसी का भी शोषण नहीं हो पायेगा। जब तक उनके सम्बन्ध एक नही होंगे, तब तक समाज पर उसका असर कुछ न कुछ पड़ता ही रहेगा। लेखक को चाहिए कि वह अपना लेखकीय अधिकार अपने ही पास रखे, जिससे प्रकाशको से उसका सम्बन्ध एक समान बना रहे। जैसे कभी-कभी लेखकों की रचनाओं का प्रकाशक अन्य भाषा मे अनुवाद कराकर उसका प्रचार प्रसार कराते है, तो उसमें भी दोनों के समान अधिकार होने चाहिए। जिससे दोनों मिलकर प्रबुद्ध समाज की पुनर्स्थापना कर सकें और समाज को एक नया स्वरूप देकर एक आदर्श समाज की स्थापना कर सकें। लेखक के बाद प्रकाशक और पाठक ही साहित्य के संवाहक होते हैं। अतः उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को सन्तुलित रखना अति आवश्यक है।

प्रश्नः- विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं से नवोदित लेखकों का जुड़ना क्या साहित्य व उनके विकास के लिए घातक है?

उत्तर- सच पूछिए तो नवोदित लेखकों में जो विकसित होने की प्रक्रिया होती है, वह सचमुच किसी न किसी महान विभूति की समानता में आने के हेतु होती है। अतः नयी पीढ़ी का लेखक अर्थात नया लेखक हमेशा अपनी उन्नति के लिए तथा अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसी कारण से वह इन संस्थाओं का आश्रय लेता है। हालांकि वह यह चाहता है कि इस संस्था का भी विकास हमारे विकास के ही साथ हो, परन्तु ऐसा नहीं होता, संस्थाध्यक्ष लोग नाम छपवाने का प्रलोभन देकर उन्हें चूस डालते है, और इतना ही नहीं मौका मिलने पर संस्था से अलग भी कर देते है। मेरी राय के मुताबिक सचमुच नवोदित लेखकों को संयम से काम लेकर ही किसी संस्था से जुड़ना चाहिए।

प्रश्नः- राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के सन्दर्भ में अपना मत स्पष्ट करें? क्या हिन्दी की वर्तमान स्थिति से आप सन्तुष्ट हैं?

उत्तरः- शासन की दोहरी नीति के कारण व हमारी अल्पविकसित मानसिकता के ही कारण राष्ट्रभाषा अपने स्वरूप में स्थापित नहीं हो पाई। इसका एक कारण यह भी है कि हिंन्दी का जनमानस तक न पहुँच पाना। मैंने पहले ही सरकार को सलाह दी थी कि हर जिले में एक पुस्तकालय (वाचनालय) खोल दिया जाय, जिससे साहित्यिक व वर्तमान सामाजिक गतिविधियों से आम जनता परिचित हो सके। हाँ मुझे इस बात की खुशी है कि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि सभी व अहिन्दी क्षेत्रों के भी लोग हिन्दी का प्रयोग पहले की अपेक्षा

अधिक कर रहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

प्रश्नः- मुंशी प्रेमचन्द की भाषा शैली क्या वर्तमान परिवेश में पसन्द की जाती है, इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुये अपने उपन्यास 'मानस का हंस' में प्रयुक्त वैष्णवी भंगिमाओं का मूल्यांकन करें।

उत्तर- उपन्यास एवं कहानी सम्राट मुंशी प्रेमचन्द की भाषा शैली मेरी दृष्टि में ग्राह्य है। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं उन्होने अतिक्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है।' लेकिन अगर तत्कालीन समाज को ध्यान में रखा जाय तो इन क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग उनकी मजबूरी ही साबित होगी।

जहाँ तक मेरे उपन्यास 'मानस के हंस' का सवाल है तो उसकी वैष्णवी प्रवृत्ति पूर्व प्रकाशित उपन्यास 'एकदानैमिषारण्ये' के वैष्णवता की अधूरी विजय का सपना ही है। उसमें मैंने जिस भाषा शैली का प्रयोग किया है, वह मुंशी प्रेमचन्द से मिलती-जुलती है। हाँ अपनी भाषा शैली को उनसे ज्यादा सरल रखने का मैंने प्रयास किया है।

प्रश्नः- आपकी साहित्य-साधना एक मानक स्थापित कर चुकी है। क्या अब भी कुछ लिखने का इरादा है, या लिख रहे हैं।

उत्तरः- महाकाल, सेठ बाँकेलाल, बूंद और समुद्र, सुहाग के नूपुर, अमृत और विष आदि की परम्परा में एक सामाजिक उपन्यास प्रस्तुत करने का विचार है, वैसे उसका तीसरा खंड अभी चल रहा है, शरीर की शिथिलता के कारण कुछ कहा नहीं जा सकता है कि क्या कर पाऊंगा क्या नहीं?

महादेवी वर्मा

परिचय

हिन्दी साहित्य की महान् कवयित्री महीयसी महादेवी
होलिकादाह के दिन सन् १६०७ को हुआ। इनका विवाह छोट
गया था। इनके पति एक डाक्टर थे। शिक्षा पूरी होने पर इन
दाम्पत्य जीवन में उतनी रुचि नहीं रही, जितनी कि साहित्य
१६३३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० (संस्कृत) क
और उसी वर्ष प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्राचार्या नियुक्त
का नाम लेते ही भारतीय नारी की गंभीरता, शालीनता, आस्था
साकार हो उठती है। वे जितनी ऊँची कवयित्री थी, उतनी
उनकी कृतियाँ निम्नवत है।

काव्य- नीरजा, नीहार, रश्मि, सान्ध्यगीत, दीपशिखा,

गद्य- शृंखला की कड़ियाँ साहित्यकार की अवस्था त
अतीत के चलचित्र स्मृति की रेखाये पथ के साथी मेरा परि

महादेवी जी ने कुछ समय तक 'चाँद' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया। इनको सेक्सरिया पुरस्कार तथा मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था। भारत सरकार ने इन्हें पद्मभूषण उपाधि से सम्मानित भी किया। इनकी 'यामा' नामक काव्यकृति पर १६८२ का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। महादेवी जी का स्वर्गवास ११ सितम्बर सन् १६८७ में हो गया। इनके निधन से हिन्दी साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई है, जिसे शायद कई दशकों तक पूरा नहीं किया जा सकता। उनकी रिक्तता कई वर्षों तक खटकती रहेगी।

परिवेश

सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ चुका था। सन्ध्या सुन्दरी अपनी उन्नत सीढ़ियों से धीरे-धीरे धरती पर उतर रही थी। पश्चिम दिशा एकदम लोहित हो चली.......। मैं चट-पट हाथ मुँह धोकर एकदम ताजा हुआ। क्योंकि ठीक, छः बजे मुझे महीयसी महादेवी जी के आवास पर पहुँचना था। मैने कपड़े बदले और एक मित्र को साथ लेकर सड़क पर साइकिल का पैडिल दबाकर चल दिया।

न जाने क्यों मन नहीं हो रहा था। फिर भी मन दबाकर पैडिल दबाते हुए अशोक नगर की तरफ बढ़ता जा रहा था। मैं यह अवसर गँवाना नहीं चाहता था। क्योंकि दो बार चक्कर काटने के बाद महादेवी जी से साक्षात्कार लेने की स्वयं अनुमति मिली थी।

कहना चाहिए, मुझे महादेवी जी से यह अनुभव मिला कि किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति से मिलना आसान नहीं है।......जब कलम कागज लेकर, दो बार निवेदन के बाद भी साक्षात्कार उन्होंने नहीं दिया, मुझे हताश होकर लौटना पड़ा, तब बुद्धि ठिकाने आयी। खैर इस बार सोचकर जा रहा था- आज अन्तिम प्रयास है, असफल हुआ तो अब दुबारा नहीं आऊँगा.,...।

तब तक हमारे साथ चल रहे मित्र ने कुछ और बात छेड़ दी। हम कुछ ही मिनटों में अशोक नगर पहुँच गए ! दरवाजा खोला, और बगल में साइकिले खड़ी कर उनके बरामदे मे गए काल वेल दबाकर चुपचाप

काले सोफे पर बैठ गए। थोड़ी ही देर में श्री रामजी पाण्डेय निकले। जब हमनें अपने आने का कारण बताया, तो वे पुनः अन्दर गये, बाहर आये तो महादेवी जी की बैठने के लिए संस्तुति उनके मुख से निकली।.......

लगभग आधे घन्टे तक चुपचाप हम बैंठकर इन्तजार करते रहे। फिर पाण्डेय जी उठे और बिना कुछ कहे अन्दर चले गए, इतने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ स्नातकोत्तर के साहित्य में रूचि रखने वाले छात्र आ गए। उन लोगों ने भी दस मिनंट इन्तजार किया। उन लोगों से आपसी परिचय भी हुआ। इतने में मैंने पुनः उठकर कालवेल दबायी, फिर पाण्डेय जी निकले। उन्होंने नवागन्तुकों से बात की। फिर मैंने अपनी बात कही। वे बोले- भाई! क्यो घबड़ा रहे है? जानते ही है कि वे अस्वस्थ रहती है। फ्रेस होकर साड़ी पहन रही हैं ....थोड़ा और समय लगेगा। मैंने कहा- ठीक है, हम लोग तो धरना देकर बैठे ही हैं। हम लोगो की प्रतिक्षा के लगभग एक घन्टे पूर्ण हुए तो बिना प्रयास के महादेवी जी ने अपने बैठके में आकर हमे बुलवाया........।

हमने अन्दर पर्दा उठाकर प्रवेश किया। श्वेत वसना महादेवी जी विराजमान थी। पतली तख्त दीवार से लगी थी। सिरहाने आलमारियों के ऊपर भारतीय ज्ञानपीठ से प्राप्त वाग्देवी की प्रतिमा शोभायमान थी। उसके बगल में महात्मा बुद्ध की प्रतिमा भी लगी थी। खिड़की के पास लाठी लिए गॉधीजी! और सामने टेलीविजन स्टूल पर शोभायमान था। उसके ऊपर कुछ गुलदस्ते, रेखाचित्र एवं एक-दो पुस्तकें.......।

उनके बिस्तर के बगल की खिड़की पर भी कुछ पुस्तकें थी। पैड.......कलम एवं कुछ सादे कागज भी दिख रहे थे। हम कुर्सियाँ खीच कर बैठे। विश्वविद्यालय के छात्र पर्याप्त कुर्सियाँ न होंनें के कारण नीचे बिछी कालीन पर बैठ गये। मैंने प्रणाम किया और अपनी प्रश्नावली आगे बढ़ा दी। उन्होंने उसे पढ़ा- मुस्करायी और मेरी तरफ बढ़ाकर कहा- प्रश्न तो बहुत कम है।

मैंने कहा- यह तो प्रश्नों की रूपरेखा मात्र है। आप बतायेंगी तो

प्रश्न खुद नए बनते-बढ़ते जायेगें......। उन्होंने अपनी मधुर मुस्कान बिखेरी, भई तुम बड़े उस्ताद आदमी हो। पाण्डेय जी इतने में जलपान, व्यवस्था के साथ उपस्थित हुए.......। इन सबसे निवृत्त होकर हमने साक्षात्कार शुरू किया.......महादेवी जी उत्तर देती गई। कुल मिलाकर साढ़े नौ बजे रात तक साक्षात्कार चला। उन छात्रों ने भी कुछ अतिरिक्त बात की। उसके बाद हम वापस आये। महीयसी महादेवी जी ने अपने इस वार्तालाप से मन प्रसन्न कर दिया। इससे मुझे ऐसा लगा कि मेरा दो बार का असफल प्रयास अब पूर्णतः सफल हो गया।

साक्षात्कार

प्रश्नः- हिन्दी कविता में छायावाद क्या है? इसको इस नाम से अभिहित क्यों किया गया?

उत्तरः- हिन्दी कविता में छायावाद एक ऐसा कालक्रम था, जब रहस्यवाद के नए आयाम में प्रस्तुति हो रही थी। हमारे युग में बहुत ऐसे कवियो ने लिखा है जो पूर्णतया रहस्यवाद की श्रेणी में आता है। छायावाद रहस्य का ही एक दूसरा आरूप है, जिसे लोगों ने स्वीकार किया, और यही उस युग को यह नाम देने का कारण भी है।

प्रश्नः- कुछ आलोचकों ने आपकी कविताओं को भक्तिकाव्य की महान कवियत्री मीराबाई से जोड़ते हुए आपको इस आधुनिक युग की मीरा कहा है। कृपया सुझाए कि इस संदर्भ में आपकी राय क्या है?

उत्तरः- भाई! यह तो आलोचकों की कृपा है। वैसे मध्यकालीन युग मे सचमुच मीरा ही एक ऐसी कवियत्री थी, जिसमें नारी का अन्तर्विद्रोह झलका है। मै इसीलिए स्वयं मीरा को बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखती हूँ, मेरे काव्य मे भी उनकी पूज्य भावना प्रधान है। अपनी स्मृति में उसकी छाया से ही सुख का अनुभव कर लेती हूँ। उनकी स्मृति छाया मुझे सचमुच पवित्र कर देती है। उस विद्रोही नारी की त्याग भावना आज भी मुझे प्रेरणा देती है।

प्रश्नः- साहित्य क्षेत्र में आपने कब और किन रूपों में प्रवेश किया। अपने आरम्भिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का विहंगम दृष्टि से अवलोकन करायें, तो अति कृपा हो।

उत्तरः- आपको यह तो मालूम ही होगा, मेरा जन्म १६०७ में फरुखाबाद में हुआ। वह निश्चित रूप से साहित्य चर्चा के लिए एक नगण्य स्थान था, अब भी है। परन्तु मेरी माताजी ही इसकी प्रेरणा रही। पिताजी की तरफ से मुझे कोई ज्यादा सहयोग नहीं मिला, और नहीं तो सक्सेना परिवार की तत्कालीन मान्यताओं के अनुरूप उन्होने मेरा विवाह भी कर दिया, जब मैं एक अबोध बालिका थी। जब बड़ी हुई तो मेरा मन शिक्षा की तरफ केन्द्रित हुआ। मैने इलाहाबाद आकर एम० ए० किया। पति से तो अनबन रही मगर उनका कुछ समय तक आर्थिक सहयोग मिलता रहा। फिर मैं प्रयाग महिला विद्यापीठ मे प्रधानाचार्य बनायी गई।

इलाहाबाद में आने पर मेरी साहित्यिकता का अंकुर फूटा था। कई बडे कवियों के सम्पर्क में आयी। दद्दा (मैथिली शरण गुप्त), निराला, इलाचन्द, गगा प्रसाद आदि से काफी निकटता रही। फिर उन्ही लोगों की प्रेरणा से मुझे सृजन

का सुयोग मिला प्रसाद (जयशकर प्रसाद) पन्त (सुमित्रा नन्दन पन्त निराला (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला) के साथ मेरी कविताओं को भी छायावाद से जोड़ा गया, और मुझे देश की जनता ने भी काफी सम्मान दिया।

प्रश्नः- अब तक तो आपने छायावाद की ही बात की.......। मैं आपको उससे कुछ इतर ले जाना चाहता हूँ। क्या आप यह बता सकती हैं कि छायावाद के बाद हिन्दी कविता का उत्कर्ष हुआ या अपकर्ष.......? वैसे यह तो एक विवादास्पद प्रश्न है ही; फिर भी मैं आपके मन्तव्य जानना चाहता हूँ।

उत्तरः- हिन्दी कविता में छायावाद का उद्‌भव उस समय हुआ, जब सम्पूर्ण भारत में जागरण की लहर काफी तीव्र गति से चल रही थी। हम महज् साहित्य का ही अवलोकन करें तो यह काल काफी नवीनता लिए था।.......कथा युग जासूसी तिलिस्म के कुहासे से निकलकर सामान्य यथार्थवादी जीवन में उतर रहा था। इस युग से साहित्य की लगभग सभी विधाओं ने नया जन्म एव विकास पाया। छायावाद के साथ ही राजनीति का भी यह स्वर्ण युग था। राजनीति में बापू (महात्मा गाँधी) के अवतार के साथ अनेको नेताओं ने आलोक फैलाये। वेदों, पुराणों व शास्त्रों मे बन्द सत्य, अहिंसा जैसे जीवन मूल्यों ने सामान्य जीवन में अवतरण पाया। वैसे इस काल के सभी क्षेत्रों में आलोक पर्व के उदेत्वन का अवलोकन किया जा सकता था।

इसी युग में मानव जीवन की सौन्दर्यानुभूति का शाश्वत आविर्भाव कविता में हुआ। छायावाद की कविता को हिन्दी कविता का स्वर्णयुग कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। यह उस युग के उज्वल इतिहास का उज्वलतम् पृष्ठ है।

अब तो साहित्य क्या हर क्षेत्र में ह्रास होता जा रहा है। मैं तत्कालीन कविता को इस ह्रास के गुण से जोड़ना उपयुक्त नही समझती। (हँसकर) खैर, यह सब तो तुम जैसे नए अध्ययनशील आलोचकों का काम है। उसकी आप अच्छी तरह मीमांसा कर सकते हो।

भई, कविता कोई कानून के दायरे में बँधकर नहीं चलती। वह केवल मनुष्य की सोच में परिवर्तन ला सकती है। और यह सब उसकी गूढ संवेदना से ही उद्भूत हो सकता है। भाव की चरम सीमा से ही कर्म की अनिवार्यता परिलक्षित हो सकती है। आज की कविता में जीवन की कोई प्रेरणा नहीं, वह तो मात्र रोग शैय्या पर लेटे रोगी का विलाप बनकर रह गई है।

प्रश्नः- आपकी सान्ध्यगीत, नीरजा, निहार, रश्मि (काव्य संग्रह) आदि की कविताओं को मैं कई बार पढ़ गया। आपके गीतों में तीव्र आध्यात्म की

लौकिकता ही दिखाई पड़ती है। आपका इस सन्दर्भ में क्या कहना है?

उत्तरः- मेरे गीत लौकिक प्रतीकों में अभिव्यक्त होने के बाद भी लक्ष्य के रूप में पूर्णतया अलौकिक हैं। गीतों के सृजन में अनुभूति की ही महत्ता सर्वाधिक होती है। जिसके अन्तर्गत भावना, दर्शन, कल्पना सौन्दर्य आदि कुछ महत्वपूर्ण शब्द शिल्प से ही संग्रहित हो सकते हैं। हिन्दी कविता के मध्य युग की समस्त साधना गीतों में ही अभिव्यंजित है। वेदों में रचे छन्द, गीत ही है। मानवीय मूल्यों से उदभूत चेतना गीतात्मक शब्दों से ही तन्मयता प्राप्त कर सकती है। रहस्यवाद पर आधारित मेरे निबन्ध इस तरफ संकेत करते है। इस लिए आप मेरे गद्य साहित्य को पढ़ लो,, फिर बात करो तो अच्छा होगा।

प्रश्नः- यह तो सत्य है की पद्य की अपेक्षा मैनें आपका गद्य साहित्य कम पढ़ा है। क्या आप बता सकेगी इन दोनों रूपों में आपको अपना कौन सा रूप ज्यादा पसन्द है?

उत्तरः- मैं मूलतः कवयित्री तो हूँ ही, इसमें दो राय नहीं। परन्तु मुझे अपना गद्यकार भी कम प्रिय नही है। संस्कृत के आचार्यों ने कहा है- यही कारण है कि मैने गद्य की भी स्तरीय रचनाओं का सृजन किया है। मेरे रेखाचित्र, सस्मरण आदि इसी भावधारा के महत्वपूर्ण विराम स्थल हैं।

प्रश्नः- अब मैं आपके व्यक्तिगत जीवन के संदर्भ में कुछ जानना चाहता हूँ। मात्र इसलिए कि लोग पारिवारिक जीवन को काफी महत्त्व देते हैं। लेखक के लिए इसका कितना महत्त्व है, यह तो मैं नहीं जानता.......लोग कहते हैं कि एक स्त्री के लिए सन्तान प्राप्ति आवश्यक है........?

उत्तरः- (मध्य मे ही) मैं समझ गई। तुम जो पूछना चाहते हो। मेरी सोच कुछ दूसरे तरह की आरम्भ से ही रही है। प्रकृति से स्त्रियों में वात्सल्य रस पुरुष की अपेछा ज्यादा भरा है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इस तरह के कई उदाहरण हैं। जैसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को पुत्र प्रदान कर उसे पहचानने से इकार कर दिया। उसके पालनें का सारा दारोमदार शकुन्तला पर ही आया। वही दूसरी ओर मेनका ने विश्वामित्र से पुत्र प्राप्त कर उन्हें ही पालने को सौंप दिया। मैं तो आरम्भ से ही आध्यात्म में रूचि रखती रही। सत्संग में जाती रही, बौद्ध से काफी प्रभावित रही। फलतः आध्यात्म के बूते मैनें इस तरह की तमाम इच्छाओं को दबा दिया।

वैसे आज भी चरित्र का संकट चारों तरफ छाया है। चरित्र सचमुच एक ऐसी जीवन पद्धति है, जिसका अवतरण जीवनमूल्यों में आस्था रखकर अन्तर्गत तथा समाज आदि के सामंजस्य से होता है। यह तो निश्चित ही है कि जीवन मूल्य एक निश्चित कालखण्ड में नही बनते, उनके निर्माण में कई

पीढ़ियाँ तथा युग बीत जाते हैं। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय आदि एक युग का निर्माण थोड़ी है, आज अपनी संवेदना के माध्यम से ही रचनाकार इन सन्दर्भों में चेतना ला सकता है। मैंने इसी तरह के प्रभावों से प्रभावित होकर तमाम रचनाएं लिखी। रेखाचित्र बनाये....... जिसमें संवेदनाए नए रूपों में प्रस्तुत हो सके। जिससे जीवन को भी कुछ सीख मिले। मेरा मत है कि जब तक आज का कवि जीवन की विरुपता का दयनीय चित्र अंकित करता रहेगा, तबतक उसकी यथास्थिति ऐसी ही बनी रह जायेगी। जब तक रचनाओं में मानव संवेदना तथा चेतना का उद्वेलन नहीं उठेगा, तब तक किसी भी तरह के परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए नई पीढ़ी को सोच समझकर आगे आना चाहिए.......। मैं क्या कर सकती हूँ! मुझसे जो लिखा पढ़ा जा सका, मैंने लिख पढ़ दिया...... अब तो कुछ भी लिखना पढ़ना असम्भव है। जब भी कुछ लिखने को सोचती हूं। अस्वस्थता आड़े आती है।

प्रश्नः- इसका मतलब कि अब आप कुछ लिखना भी नही चाहती।

उत्तर.- कैसे लिख सकती हूँ। जिन्दगी भर मै ही लिखती रहूँगी या तुम लोग भी लिखोगे। अब तुम्ही लोग लिखो। मुझे और मेरी कलम को विराम करने दो, थकी उंगली हैं टूटे तार........।

(आगे कुछ पूछने की हिम्मत नही हुई। रात के ६ बज गए थे।)

★ ★ ★ ★ ★

डॉ० रामकुमार व

परिचय

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पद्म भूषण डा० राम
बहुमुखी प्रतिभा से कविता ही नहीं वरन् हिन्दी की विभिन्न
एकांकी, शोध, समालोचना आदि से हिन्दी के कोश को भ
की इसी आपूर्ति पर उन्हें पद्मभूषण, साहित्यवाचस्पति के अ
कालिदास पुरस्कार चक्रधर पुरस्कार तथा भारत भारती पु
उन्होंने सोवियत संघ, श्रीलंका, नेपाल, इंग्लैण्ड, अमेरिका
यात्राएँ भी की।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार का अव
सन् १९०५ ई० को मध्य प्रदेश के सागर जिले में हुआ।
शिक्षा नागपुर तथा म० प्र० में ही हुई।

आप उच्च शिक्षा के लिए प्रयाग आये और
विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया। नागपुर विश्व

शोध प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास' पर पी०एच०डी० की उपाधि दी। आपका हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी साहित्य पर अच्छा अधिकार था। आप विभिन्न संस्थाओं के पदाधिकारी भी रहे।

आपकी लगभग अस्सी पुस्तकें प्रकाशित होकर हमारे समक्ष आ चुकी है। उनके नाम लगभग इस प्रकार हैः- अभिशाप, हिमतास, चित्तौड़ की चिता, वीर हम्मीर, अंजलि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, रूपराशि, आकाश गंगा, निशीथ, साहित्य समालोचन, कबीर का रहस्यवाद, संत कबीर, साहित्य शास्त्र, पृथ्वीराज की आँखे, रेशमी टाई, दीपदान, शिवाजी चारुमित्रा, विजय पर्व, जौहर, ध्रुवस्वामिनी, रिमझिम, रूपरंग, रजतरश्मि, सत्य स्वप्न, ऋृतुराज, एकलव्य, उत्तरायण, इन्द्रधनुष, बालि वध, कला और कृपाण, पांचजन्य, ओ अहिल्या आदि।

एक बात यह उल्लेखनीय है कि डा० वर्मा के सृजन की शुरूवात 'सुखद सम्मिलन' नामक कहानी से हुई, जिसे लगभग विस्मृत कर दिया गया है।

डॉ० रामकुमार वर्मा का देहावसान ५ अक्टूबर १९९० ई० को प्रयाग में हो गया।

परिवेश

उस दिन सुबह जब सोकर उठा तो अचानक याद आया। आज ग्यारह बजे डॉ० राम कुमार वर्मा जी के यहाँ जाना है। जल्दी मे अपना हाथ नीचे किया, और धरती को अंगुलियों से स्पर्श कर सिर से लगाया, और फिर बिस्तर से नीचे उतरा। जल्दी-जल्दी नित्यक्रिया से निवृत्त होकर उनका शिवाजी नाटक पलटने लगा, जो लगभग एक माह पूर्व उन्होंने मुझे भेट की थी। कुछ देर तक उसे पलटने के बाद उनकी काव्य कृति 'अंजलि' को भी पलटा। देखते ही देखते पन्द्रह बीस पृष्ठों की लम्बी भूमिका पढ़ डाली। फिर कुछ अन्य सामग्रियो का अवलोकन कर तुरन्त सात प्रश्नों की एक प्रश्नावली बना डाली।

तब तक स्नान-ध्यान का समय हुआ। आराम से नहाया-धोया.......भाव भोजन के उपरान्त घड़ी पर नजर डाली। ठीक ग्यारह बज चुके थे। अब कुछ भी सोचने समझने को समय नही था। प्रश्नावली के साथ चार-पाँच फुलस्कैप के सादे कागजों को जेब में ठूसा। दो कलमें शर्ट की जेब में खोसी और फिर चल पड़ा प्रयाग स्ट्रीट......।

लगभग पन्द्रह-बीस मिनट की पदयात्रा के बाद मैं वहाँ पहुँचा........। कालबेल दबाई । एक नौकरानी ने दरवाजा खोला। उसके पूछने पर मैंने

बताया कि डा० साहब ने आज बुलाया था। उनसे ही मिलना है! उसने प्रत्युत्तर में कहा। वे कोई आवश्यक काम कर रहे हैं। किसी से नहीं मिलने को बोले है।

मैं चकराया......अभी एक सप्ताह पूर्व उन्होंने मुझे आहूत किया था।........ और आज जब मैं पूरी तैयारी के साथ आया तो वे कोप भवन मे चले गए.......और आदेश भी पारित कर दिया कि आवश्यक कार्य कर रहा हूँ किसी से नहीं मिल सकता। एक क्षण मुझे बहुत बुरा लगा। मन बार-बार यही सोच रहा था यह मैं सुबह ही सुबह अच्छा कोपभाजक बना। यह पूरा दिन पता न कैसे गुजरेगा? मै धम्म से सामने बरामदे में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया।

इतने में उस नौकरानी ने कहा-क्या कहूं.....। उसके इन दो शब्दों म मुझे आशा की किरण दिखाई पड़ी.......। मैंने उत्साह के साथ कहा-कह दीजिए.....एक विजयानन्द नाम के आये हैं........उन्हें आपने आज बुलाया था।' 'अच्छा' कहकर वह अन्दर चली गई, परन्तु मैं सोचता रहा- भई एक सप्ताह मे कितने लोग मिलने आयें होंगे.....उन्हे क्या मेरा मिलना याद होगा? चेहरा भले याद आ जाय...... परन्तु नाम तो भूल ही गए होंगे........महाशय ....।

मेरे मन में धरना देकर बैठने का विचार आया ही था कि तब तक वह नौकरानी उल्टे पाँव आयी, अपने अध्ययन कक्ष में ही बुला रहे हैं। मै उसके संकेत पर बैठके की गली से होता हुआ आँगन में आया, और फिर ऑगन को पार कर एक छोटे कमरे से होता हुआ उनके अध्ययन कक्ष में.........।

बहुत अच्छी तरह बना था उनका यह अध्ययन कक्ष........। मैं जिन्दगी मे पहली बार उनके अध्ययन कक्ष में प्रवेश किया था, इससे पूर्व तो बैठक खाने से ही मिल जुलकर चला जाता था। इस कक्ष मे एक लम्बी चौड़ी मेज लगी थी। मेज के एक तरफ लोहे का बड़ा सटर था।....... जिससे बाहर की तरफ से आने वाली हवा निरन्तर प्रवेश कर रही थी। उसकी तरफ से बागवानी के तमाम फूल,पौधें, पत्तियाँ, छोटे पेड़, बल्लरियाँ आदि झाँक रही थी। लेकिन डा० साहब को पता न क्या सूझी थी कि उनकी सौन्दर्य रूपराशि से आँखे मिलाने के बजाय वे उनकी तरफ उपेछा भाव से पीठ कर कुर्सी पर बैठे मेज पर कुछ लिख रहे थे।

मैंने दोनो हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा खुश रहो! मैं सोच ही रहा था कि तुम आज मेरा पीछा नही छोड़ोगे। लेकिन जब काफी देर तक, नहीं......... (फिर घड़ी देखकर) लगभग आधे घन्टे विलम्ब से आ रहे हो न.....तो सोचा चलो चला टला । आओ कुर्सी पर बैठो

भई! तुम्हारा नाम सुनते ही मैंने बुला लिया.......चलो सब जरूरी काम ठप.... ।

मैं पुनः उनका मुँह देखने लगा, और बोल उठा।.......यह तो आपकी कृपा है, नही तो मैं यही सोच रहा था कि आज भी आना व्यर्थ होगा। परन्तु आपने समय दिया।' मेरी बातो का कोई जवाब दिए बगैर उन्होंने दो गिलास सादा पानी मँगाया......मैं उनके अध्ययन कक्ष का विशद् अवलोकन करने लगा.........। दीवारों से चिपके खड़े लकड़ी के रैको में दो-ढाई हजार से ऊपर किताबे सुसज्ञित थी। उनका यह कक्ष किसी पुस्तकालय से कम न था। मोटी, पतली, छोटी, ठिगनी सब तरह की पुस्तके शोभायमान थी। फिर उधर से दृष्टि उठाकर, जब उनके मेज पर दृष्टि डाली तो देखा, पचास-साठ लिफाफे व पोस्टकार्ड तथा अन्तर्देशीय पत्र पड़े हुए है। लिफाफे अन्तर्देशीय तो खुली भी नहीं थी। नीचे पड़ी कूड़ेदांन की टोकरी पर नजर डाली तो उसमें भी कुछ बन्द लिफाफे फेके पड़े थे। मन में एक दहशत हुई कि लोगो के पत्रों का ये जवाब तक नही देते। मैंने बाद में इसे घूमाकर पूछा- तो उत्तर था.....सचिव नहीं आया, मै अस्वस्थ था.....सो लिखने की हिम्मत नहीं हुई।

हम दोनों ने बारी-बारी मुंह से गिलास लगाकर उसे खाली करते हुए नौकरानी की ट्रे में रख दिया। वह चली गई तो फिर प्रश्नों का सिलसिला वही शुरू हो गया......। लगभग ४ प्रश्नों के उत्तर देने के बाद उनके मन मे न जानें क्या सूझी..........उन्होंने कहा.....चलो बैठके में चलते हैं। हम लोग बैठके मे आये। वे सामने के सोफे पर बैठे और मैं बगल के। बैठके में आते ही उन्होंने पान का एक बीरा मुँह में दबाया। मैने बैठके का अवलोकन किया। सामने सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा प्रदत्त 'पद्मभूषण' का सम्मान पत्र झूल रहा था। बगले में एक शीशे की जड़ी आलमारी थी। जिसके अन्दर से शील्ड, पदक, मूर्तियां एवं कुछ सम्मान एवं प्रशस्ति पत्र झाँक रहे थे। हमारे सोफो के बीच एक लम्बी चौड़ी स्टूल रखी थी। मैंने अपनी सुविधानुसार उसे खींच कर आगे किया तथा उस पर कागज फैला कर कलम सँवारते हुए प्रश्न किया..... ।

साक्षात्कार

प्रश्नः- डॉ० साहब ! आपने प्रारम्भिक शिक्षा कहाँ से प्राप्त की। क्या आप प्रारम्भिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षणों का उल्लेख करना चाहेंगे।

उत्तरः- मैने प्रारम्भिक शिक्षा नरसिंहपुर (म० प्र०) में प्राप्त की। उस समय मेरे पिताजी वहाँ के डिप्टी-कलेक्टर थे। मुझे याद है कि उस समय स्वाधीनता आन्दोलन की लहर बड़े तीव्र गति से चल रही थी। जब मैं कक्षा ६ मे पढ़ता था, तो कक्षा के मानीटर की हैसियत से मैने स्वाधीनता संग्राम की प्रभातफेरी में पिता की बिना आज्ञा के भाग लिया था। पुलिस ने नेताओं पर डडे बरसाये और मैने भी डंडे खाये। परन्तु हम लोग जवान थे, और हम लोगो मे अदम्य उत्साह था। उस समय हम लोग प्रभात फेरी में यही गाते थे।-

नहीं डरेंगे नहीं डरेंगे
तोपों से तलवारों से,
नहीं डरेंगे पैने पैने
हथियारों के वारों से।
नहीं डरेंगे लेशमात्र भी
भीषण कारागारों से।
नहीं डरेंगे नहीं डरेंगे,
दिल दहलाते अत्याचारों से।
लेंगे हम अवश्य ही लेंगे,
हम अपने अधिकारों को,
चाहे झेलने पड़ें हमें,
गोली के बौछारों को।।"

प्रश्नः- आपके लेखन की शुरुवात किस तरह हुई, किस प्रकाशित प्रथम रचना से पहली बार हिन्दी जगत प्रभावित हुआ। उसका नाम व प्रकाशन वर्ष?

उत्तरः- साहित्य के प्रति मेरा लगाव बाल्यकाल से ही था। मेरे पितामह शोभराम जी साहित्यानुरागी व्यक्ति रहे। पूज्य पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद भी विद्याव्यसनी थे, मेरी माता श्रीमती राजरानी देवी को तो सूर, तुलसी, मीरा आदि के बहुत से पद्य कंठस्थ थे। इस प्रकार वाल्यावस्था में मुझको अच्छा साहित्यिक माहौल मेला था। जहाँ तक मुझे याद है। मेरी पहली रचना सन् १६२२ में लिखी

गई। इससे पूर्व भी मां के प्रभाव से बच्चों की छोटी-छोटी तुकबन्दियां लिखा करता जो, 'शिशु' एवं 'बाल सखा' में प्रकाशित भी हुई थी। बच्चों की ही तुतली भाषा की एक तुकबन्दी याद आ रही है, जो १६१७ में लिखी गई थी-

"हैं कैछा अलियल घोला
घल के बाहल मुझको लाकर
तलने से मुख मोला
कैछा अलियल घोला।।"

लेकिन खड़ी बोली की प्रथम १६२२ की रचना, जिसने मुझे कवि बनाया-वह इस प्रकार है-

"जिस भारत की धूल लगी हैं मेरे तन में
क्या मैं उसको कभी भूल सकता जीवन में।
चाहे घर में रहूँ रहूँ अथवा मैं वन में
पर मेरा मन लगा हुआ हैं इसी वतन में।।"

यह कविता कई पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई, तथा लोगों ने इसे प्रभातफेरी में भी गाया। इस प्रकार मेरी कविता का अंकुर राष्ट्रीयता की उर्वर भूमि में ही पनपा। सन् १६३७ में जब मैं गुरुदेव रवीन्द्र से मिला, तो उनकी गीतांजलि का प्रभाव भी मुझ पर अनेक आयामों मे पड़ा।

प्रश्नः- क्या आप भारतीय स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से जुड़े। यदि हाँ, तो कुछ महत्वपूर्ण क्षणों का उल्लेख करें।

उत्तरः- जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ। मैंने बचपन से ही स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया। सन् १६२१ की एक छोटी सी घटना याद आ रही है, जब बापू का स्वाधीनता के लिए असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ था। मैं कालेज का विद्यार्थी था। नरसिंहपुर (म० प्र०) में महात्मा गांधी का फरमान लेकर शौकत अली साहब आये हुए थे। उन्होंने मंच से खड़े होकर अपना फरमान सुनाया। स्वतंत्रता के लिए हमें आवश्यक है कि हम ब्रिटिश सरकार से असहयोग करें। इसके लिए नौनिहालों को स्कूल छोड़ देना चाहिए। सरकारी नौकरी करने वालों को नौकरियाँ छोड़ देनी चाहिए।' वक्तव्य खत्म होते ही शौकत अली ने कहा- 'कितने हैं तुममें से जो कल स्कूल नहीं जायेंगे।' किसी ने भी हाथ नहीं उठाया, तब उन्होंने फिर कहा- 'कौन है माई का लाल, जो कल से स्कूल नहीं जायेगा।' तब भी कोई हाथ नहीं उठा, परन्तु मां के प्रति मेरी अपार श्रद्धा ने मुझे अन्तर से उद्वेलित किया और मैं खड़ा हो गया

लोगों को आश्चर्य हुआ और वे कहने लगे, अरे ! यह तो डिप्टी साहब का लड़का है, अरे यह तो एडवोकेट साहब का भाई है। मेरे भाई उस समय सरकारी वकील थे। दूसरे दिन से मैंने स्कूल छोड़ दिया, और नित्य प्रातः प्रभात फेरी करता दिन को खद्दर बेंचता। यदि मैं आन्दोलनों में भाग न लेता तो शायद कवि न होता।

प्रश्नः- आलोचकों की दृष्टि में कवि और समालोचक की अपेक्षा आपका नाटककार सर्वोपरि है। इन तीनों रूपों में आपको अपना कौन सा रूप ज्यादा प्रिय है।

उत्तरः- मैं मूलतः कवि हूँ। यह कहना न होगा कि मेरी कविता की स्थायी प्रामाणिकता मेरे महाकाव्य-एकलव्य, उत्तरायण, खण्डकाव्य, ओ अहिल्या, तथा अंजलि, रूपराशि, चित्रलेखा, चन्द्रकिरण, साकेत आदि दसों संग्रहों से स्वय सिद्ध है। हाँ यह अवश्य है कि मैंने १६३० से एकाकी लेखन शुरू किया। 'बादल की मृत्यु' मेरा पहला एकांकी नाटक था। दूसरा 'पृथ्वीराज की आँखे' प्रकाशित हुआ। लोगों ने प्रशंसा की, मेरा उत्साह बढ़ा, और मैंने हिन्दी एकांकी के कोश को विधिवत परिपूरित किया। जहाँ तक समालोचना का सवाल है। यह मस्तिष्क की देन है। कुळ मिलाकर मुझे अपनी कविता हर रूखे-सूखे वातावरण मे भी मुझे प्रिय है। सच पूछें तो कविता और समालोचना मेरी दो पुत्रियाँ हैं, और एकांकी नाटक मेरा पुत्र। फिर भी मै कविता को ज्यादा मानता, और दुलारता हूँ।

प्रश्नः- अपने समकालीन कवियों के सन्दर्भ में क्या आप कुछ कहना पसन्द करेंगे। काव्यगत सौन्दर्य एवं मानवीय मूल्यों से उदासीन कविता क्या समाज को कोई रचनात्मक दिशा प्रदान कर सकेगी? नई कविता से ऊबे हुए कवि अब नवगीत व गजल की तरफ बढ़ रहे हैं। क्या लयात्मकता का यह स्वरूप पुरानी कविता की तरह स्थापित होगा?

उत्तरः- अवश्य होगा। जब तक कविता जन सामान्य के समझ में न आये। उसकी लयात्मकता को सुनकर श्रोताओं या पाठकों में उसके प्रति रुझान उत्पन्न न हो जाये। तब तक वह कविता है ही नहीं। नई कविता का रूखापन ही उसके मार्ग में रोडा है। इसके दूर होते ही नयी कविता भी कविता बन सकती है।

नवगीत, हिन्दी गजल और पुरानी लयात्मक छन्दबद्ध कविता का इसी कारण भविष्य उज्वल है। मुझे उम्मीद भी है कि वे पूरी तरह स्थापित भी हो जायेगी।

प्रश्नः- डॉ० साहब ! आपके एकांकी हिन्दी की अमूल्य निधि माने जा

रहे हैं। आपकी दृष्टि मे इसका क्या कारण है?

उत्तरः- हालांकि मैंने एकांकी लेखन कविता के दसों साल बाद आरम्भ किया। यह अवश्य है कि मैंने उसमें भारतीय संस्कृति की उपादेयता स्वीकार किया। मैंने यह प्रयास किया कि मेरे नाटक उन पात्रों पर आधारित हों। जिनका भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान हो। जब मैंने अन्वेषण किया, तो बहुत से ऐसे पात्र मिले, जिनका चरित्र स्तुत्य था, परन्तु उन पर इतिहास व समय की धूल जम गई थी, मैंने उनकी धूल झाड़कर उसे पालिश कर चमका दिया। मुझे भारतीय आदर्शों एवं भारतीय संस्कृति से इतना लगाव है कि मैं कभी उसे अवहेलित नहीं कर सकता। यही कारण है कि मेरे एकांकी नाटको में भारतीय सस्कृति का प्रभाव बहुतायत है, और शायद इसी कारण से इन्हें लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है।

प्रश्नः- आप अपने जीवन की कोई ऐसी घटना बताएँ जिसे आप भुलाना चाह कर भी नहीं भुला पाते हों?

उत्तरः- एक बार की बात है। शायद १६३० ई० मे, मैं अपने दो मित्रों के साथ गंगा स्नान करने गया। उनका नाम था, ओम प्रकाश व सत्यवान शर्मा। गंगा के किनारे बाँस बँधे थे। हम लोगों ने यह तय किया कि हम तीनो एक साथ गंगा में कूद जायें। हम तीनो बाँस पर चढ़कर गंगा मे कूद गए। ओमप्रकाश और सत्यवादन को तैरना आता था। लेकिन मैं नही तैर पाता था। मैंने इस घटना से पहले तैरने का प्रयास किया था, परन्तु कुल मिलाकर नौसिखिया ही था, मैं गंगा में डूबने लगा। लेकिन एक मछेरे ने अपनी नाव दौड़ाकर मुझे पकड़ लिया; और कहा-का बाबू, ए ऊमर मां काहू से प्रेम-वेम हो गवा का, काहें डूबत रह्यो। मैंने उसे सब बात ज्यों की त्यों बता दी। मेरे दोस्त जब लौटकर किनारे आये तो खूब ठहाका हुआ।

प्रश्नः- आपकी साहित्य साधना सिद्धि को प्राप्त कर चुकी है, क्या अब भी कुछ मन्तव्य शेष हैं?

उत्तरः- हाँ, इधर इन्द्र पर एक महाकाव्य लिख रहा हूँ। कुछ एकाकी भी लिखने की इच्छा थी। मगर इस उम्र में मेरी शारीरिक अस्वस्थता ही ज्यादा बाधक है, फिर भी प्रयासरत हूँ। आगे ईश्वर की इच्छा...वह चाहेगा तभी तो मै कुछ कर पाऊँगा।

★ ★ ★ ★ ★
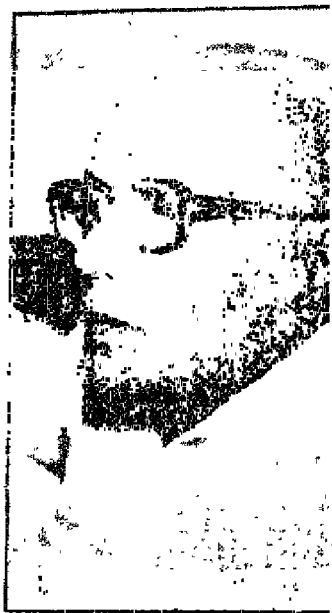
रामेश्वरशुक्ल 'अंच

परिचय

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का जन्म १ मई १९१५
जि० फतेहपुर उ० प्र० में हुआ। एक साधारण क्लर्क से
करते हुए वे शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालयों के आचार्य
(रायपुर एवं जबलपुर वि० वि०) के हिन्दी विभागाध्यक्ष, ल
अधिष्ठाता रहे। आपने मध्य प्रदेश शासन की महाविद्यालयीन
पद को भी सुशोभित किया।

आपकी दीर्घकालीन साहित्य सेवा के लिए आपको ज
ने डी० लिट० तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य वा
किया। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् तथा उत्तर प्रदेश हिन्दी
अपने सर्वोच्च सम्मानों से आपको सम्मानित किया।

आपके अब तक चार खण्डकाव्य, सोलह कविता
छ कहानी संग्रह दो आलोचनात्मक निबन्ध एक संस्मरण

व्यग्य संग्रह प्रकाशित हो चुके है। जो 'मधूलिका, अपराजिता, किरणबेला, लाल चूनर, करील, वर्षान्त के बादल, विरामचिह्न, अनपूर्वा, इन आवाजों को ठहरा लो, मेरी श्रेष्ठ कविताएं, त्यागपथी, चढ़ती धूप, उल्का, नई इमारत, क्षितिज बिम्ब, शिलालिपि, मरूस्थली, देहभाषा, मलंग, बुभ्रा, आदि नामों से विख्यात हैं।

सम्प्रति आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद के सभापति हैं, तथा स्थाई रूप से जबलपुर मध्यप्रदेश मे रहकर स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं। उम्र का सातवाँ दशक पार करने के बाद भी आप पूरे उत्साह के साथ सृजनरत हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य के प्रमुख रचनाकार श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' हिन्दी साहित्य के एक ऐसे दीप्त स्तम्भ हैं, जिन्होंने साहित्य की बहुआयामी सेवा की है। काव्य एवं कथा जगत में लगभग एक ही साथ प्रविष्ट होने वाले इस मूर्धन्य रचनाकार ने हिन्दी साहित्य के अन्यान्य उतार-चढ़ावों को अपनी नगी ऑखों से देखा है। हिन्दी की लगभग सभी विधाओं में हस्तक्षेप रखते हुए यह रचनाकार सरकारी पुरस्कारों की बन्दरबांट एवं खेमेबाजी आदि जैसी कुत्सित विचारधारा से किस तरह अलग रहा और कैसे संघर्ष किया? इन सब पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत है उनसे हुई वार्ता के महत्वपूर्ण अंश. . .।

परिवेश

बहुत ही दिनों से पण्डित रामेश्वरशुक्ल 'अंचल' नाम पाठ्य-पुस्तको में पढ़ता आ रहा था। मन में कई बार आया की आपसे कैसे मिला जाय? एक बार स्थानीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय गया। वहाँ से पता चला कि श्री शुक्ल जी इसके सभापति हो गए है। मन में प्रसन्नता की लहर दौड़ उठी, यह विचार कौंध उठा कि अब मुझे उनसे मिलने के लिए जबलपुर (म० प्र०) नहीं जाना पड़ेगा। एक व्यक्ति से पूछने पर पता चला कि मुझे ज्यादा दिन तक इन्तजार नहीं करना पड़ेगा। वे इसी सप्ताह आ रहे हैं। मै प्रसन्नता से घर आया, और निर्धारित तिथि को उनके कार्यालय मिलने गया।

वे बड़ी प्रसन्नता के साथ मुझसे मिले। मैंने अपना कहानी-संग्रह 'अँधेरे के खिलाफ' (१९८८ ई०) उन्हें भेंट किया। वे प्रसन्न हुए। मैंने साक्षात्कार की बात बताई- तो उन्होंने कहा- भई, इस बार थोड़ा व्यस्त कार्यक्रम है, ऐसा करो, मैं १४ सितम्बर के हिन्दी दिवस के कार्यक्रम में आऊँगा। फिर जितना समय होगा, आपको दे दूँगा।

. मुझे इसलिए कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि मैंने उनके कथा साहित्य को नहीं पढ़ा था, महज कविताओं का ही अध्ययन किया था और साथ ही प्रश्नावली भी नही तैयार की थी।

मैंने उनकी बातों के साथ अपना 'बहुत अच्छा; वाक्य जोड़ा, और विदा लेकर चल दिया। उनके सहज व्यक्तव्यक्तित्व की छवि काफी देर तक आँखो के समक्ष नर्तन करती रही।

समय को तो बीतना ही थी... दिन बीतते रहे और बीतते गए। .. फिर एक माह बीतने में कितनी देर लगती भला. . .। मैं भी सम्मेलन के हिन्दी दिवस के कार्यक्रम में आमंत्रित था। जब सम्मेलन संग्रहालय के सभागार मे पहुँचा, तो देखा, अंचल जी आज की अध्यक्षता भी कर रहे थे। मैंने कुछ समय तक वहाँ उपस्थित विद्वज्जनों का वक्तव्य सुना... चूँकि किसी आवश्यक कार्य से शीघ्र वापस आना था। अतः मैंने मंच पर ही आवेष्ठित होकर उनसे बात की, और सुबह आठ बजे का समय तय कर लिया।

सुबह कुछ मिलने वालों के आ जानें के कारण लाख बहाना मारने पर भी मैं ६ बजे मुक्त हुआ। ...फिर कपड़े बदले, और चटपट हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ चल दिया। मैंने सम्मेलन के मुख्य गेट से प्रवेश किया। सुन्दर बने रास्ते के दोनों तरफ हरी घासें शोभायमान थी। उनके किनारे-किनारे कुछ डाढ़ीदार फूलों के उन्नत ललाट लहरा रहे थे। सुन्दर सुकोमल पत्तियो एव लाल फूलों से शोभायमान उनका वक्षस्थल सूर्य की अरूणिम किरणों के प्रभाव से और मोहित कर रहा था।

प्रकृति के सौन्दर्य की रूपराशि को अपने दृगों में रचाता-बसाता मैं आगे बढ़ता गया, और क्षण में ही 'सत्यनारायण कुटीर' की सीढ़ियों को चढ़ता हुआ, अंचल जी के कक्ष की तरफ बड़ा। देखा खद्दर के पायजामें कुरते मे सजे, हाथो में छड़ी ठोकते अंचल जी मेरी ही तरफ चले आ रहे थे। मैंने तीव्र ध्वनि में उन्हे प्रणाम किया। उन्होंने चौक कर मेरी तरफ देखा, और कहा- 'मुझे तो यह उम्मीद हो गई थी कि आप नहीं आयेंगे।'

मैं यह कहते हुए उनके पास पहुँच गया कि- 'समय लिया है, तो पहुँचूँगा क्यो नही?' उन्होंने मेरे वाक्य में अपना एक वाक्य जोड़ा- 'भले देर

से. . .।' वे मुड़ गए, थोड़ा आगे बढ़कर अपना दरवाजा खोला और अन्दर बिस्तर पर जाकर बैठ गए. . .। मैं सामने लगी मेज से सटी कुर्सी पर बैठते हुए देखने लगा। इस छोटे से कँक्ष में दो बिस्तर लगा था। सामने छोटी -छोटी दो आलमारिया थी। एक में कुछ पुस्तकें एवं कागज आदि थे। दूसरें में कुछ कपड़े। कुछ खूटियों पर कपड़े लटक रहे थे। मेरे सामने वाले मेज पर भी कुछ किताबे, कुछ फुटकर कागज, अखबार कलम कपड़े का झोला आदि सुसज्जित था।

बगल में एक छोटी सी 'एरीस्टोकेट' की अटैची रखी थी। दोनों बिस्तरों पर सफेद चादर बिछी थी। वे बिस्तर के बीचोबीच बैठे थे, उन्होंने कहा- 'भई देर न करो। अपने प्रश्न पूछो? अभी नाश्ता भी नहीं किया है एक घन्टे तक इन्तजार करता रहा।'

मै अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हुआ। जेब से प्रश्नावली निकालकर सामने रखी, तथा उसी के साथ सादे कागजों को निकालकर मेज पर रखते हुए कलम से उस पर पृष्ठ संख्या डाली, और प्रश्न एक का उत्तर लिखकर प्रश्न पूछना शुरू किया, और तदनुरूप उत्तरों में तर्क का समावेश कर पूरी बात उगलवाने के प्रयत्न के साथ उत्तर लिखता गया।

साक्षात्कार

प्रश्न :- आपने साहित्य की दहलीज पर सर्वप्रथम कब और किस रूप मे कदम रखा?

उत्तर - मैने अपना लेखन-कार्य कहानीकार के रूप में शुरू किया। मेरी पहली कहानी 'मेरा मुंह' सन् १६३१ ई० में 'माधुरी' में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद निराला, शिवपूजन सहाय, चतुरसेन शास्त्री जैसे उस युग के प्रख्यात साहित्यकारों से प्रोत्साहन पाकर मैंने कई और कहानियां लिख डालीं। जो प्रकाशित होती रही। मेरी पहली पुस्तक १६३८ ई० में प्रकाशित हुई, जिसका नाम 'तारे' था। इससे पूर्व १६३२ ई० से मैंने कविता लेखन शुरू किया और कवि के रूप में समान रूप से ख्याति मिलती रही। कहने का अभिप्राय यह है कि १६३८-३६ ई० तक आते-आते हिन्दी के भविष्यवान्कवियों में गिना जाने लगा। सन् १६३८ ई० में ही मेरा पहला कविता संग्रह 'मधुलिका' प्रकाशित हुआ था, जो मध्य प्रदेश के रायगढ़ राज्य की 'चक्रधर साहित्य समिति' द्वारा ५००/- रू० से पुरस्कृत हुआ था।

प्रश्न- प्रायः यह देखा गया है कि अधिकांशतः रचनाकार खेमेबाजी के चलते प्रकाश में आये। क्या आपने भी ऐसा खेमा बनाया, या ऐसे खेमें में शामिल रहे?

उत्तर- खेमेबाजी से हमेशा मुझे विरक्ति रही। यों तो समान विचारधारा और लेखन विधा के रचनाकार एक दूसरे के निकट होते जाते हैं और अपने आप ही उनकी एक समानधर्मी गोष्ठी बन जाती है, लेकिन वह एक नैसर्गिक क्रिया है। स्वार्थों की पूर्ति के लिए और परस्पर प्रशसा समितियां कायम करने के लिए जो खेमेबाजी की जाती है वह मुझे कभी हितकर नहीं लगी। इस प्रकार के मनोभाव वाले व्यक्ति के लिए किसी खेमे में शामिल होने का प्रश्न ही नही उठता। जब तक प्रगतिशील धारा मुझे राष्ट्रीयता से टकराती मालूम पड़ी तब तक मैं ऐसे आन्दलोन से जुड़ा रहा। स्वभाव व संस्कार से मैं पूंजीवाद, आर्थिक शोषण और जन उत्पीड़न का दुश्मन, व्यवस्था का वहीं तक साथ देना चाहता हू, जहां तक यह जन विरोधी न हो। परन्तु जो व्यवस्था जनता के अभावो दुर्दैन (गरीबी) के प्रति उदासीन हो, और वर्गगत स्वार्थो को लेकर चलती हो, उससे प्रत्येक रचनाधर्मी का टकराव स्वाभाविक है।

प्रश्न- आपने विशेषतः किस भावना से द्रवीभूत होकर कविताएं लिखा। उस समय हिन्दी कविता के विधाई आन्दोलन किस तरह प्रफुल्लित थे? अन्य विधाओं की क्या स्थिति थी?

उत्तर- प्रगतिवाद तो एक नया साहित्य दर्शन था। जीवन को नए ढग से देखने व चित्रित करने की प्रवृत्ति थी। कविता, कहानी, उपन्यास नाटक सबमे प्रगतिशीलता इतने वेग के साथ आयी कि विषय वस्तु, रचना आदि का रूप बदल गया। लेकिन साहित्य को मात्र प्रचार का जब साधन बनाया जाने लगा, तब मुझ जैसे जीवनधर्मिता के उपासक को गहरी वेदना हुई। साहित्य में शक्ति होगी, तो यह अपना प्रचार स्वयं कर लेगा, और अपने में निहित विचारधारा को स्वतः फैलायेगा। सच पूछिए तो नई कहानी का आन्दोलन नेतृत्व प्रदर्शन का आन्दोलन था। एक सीमा तक यह बात नई कविता के लिए भी कही जा सकती है। आज दशकों में विभाजित करके साहित्य सृजन और विवेचन का मूल्यांकन किया जाता है। परन्तु मैं हिन्दी कविता में केवल दो युग मानता हू। छायावादी युग एवं छायावादोत्तर युग। नया कवि हमेशा समकालीनता से आगे होकर लिखता है। उसकी भाषा, भाव और अनुभूति में ताजगी होती है। रचना प्रक्रिया का यह स्वाभाविक क्रम है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। हर एक सच्चे कवि का अपना व्यक्तित्व होता है। अपना शिल्प या अशिल्प होता है, अभिव्यक्ति प्रणाली होती है। मगर जब कविता की शक्ति कम होने लगती है तब इस प्रकार की उपविधाओं के नामकरण का सहारा लिया जाता है।

प्रश्न- क्या स्वाधीनता आन्दोलन से आप जुड़े रहे। क्या आपका साहित्य इससे प्रभावित हुआ?

उत्तर- स्वाधीनता आन्दोलन से मैं सक्रिय रूप से तो नहीं जुड़ा रहा। लेकिन राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता प्राप्ति के लिए किए जा रहे त्याग एवं बलिदान के जीवनानुभवों से सदैव अभिभूत रहा। राष्ट्रीय कविता में प्रायः कवित्व कम होता था। उद्‌बोधन या दिशात्मकता अधिक थी। लेकिन सच्चे राष्ट्रीय कवि तन मन से विद्ध होकर जो लिखते थे, उसे पढ़कर सचमुच हृदय ही नहीं आत्मा तक आन्दोलित हो उठती थी। जो राष्ट्रीयता की भावना कविता में किसी न किसी प्रकार लाने की चेष्टा करते थे। उनकी यह बाह्यरोपित प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो जाती थी। वैसे मैं इससे बहुत कम प्रभावित था।

प्रश्न - क्या आपने किसी से प्रभावित होकर साहित्य सर्जना शुरू की? किसी व्यक्ति विशेष या विधा विशेष द्वारा. . . आदि।

उत्तर- मुझे अपने चारों ओर व्याप्त सामाजिक पिछड़ेपन काव्य में कल्पना की प्रचुरता और सच्ची अनुभूतियों का अभाव, साहित्य में उन दिनों चल रहे एक प्रकार के पलायनवाद और आत्म केन्द्रित अहंवाद के विरोध की भावना ने प्रेरणा दी। मुझे उन सभी छोटे-बड़े विदेशी प्रत्येक साहित्यकार की रचनाओं से प्रेरणा मिली। जिनकी आत्मानुभूति जीवन सत्य थी। वह मन पर अपनी छाप छोड़

देता था।

प्रश्न- श्रोताओं की संवेदनाओं के तह तक पहुंच जाने वाले गीत अपने शिशुकाल से लेकर अब तक कई रूपों में पल्लवित हुए। उसने अकविता एव नई कविता की मार भी सही। इस पर क्या कहना चाहेंगे। अपने गीतों को आपने किस तरह पोषित किया?

उत्तर- कविता पढ़ी व लिखी जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी में वाचक परम्परा का बोलबाला रहा, और हमारे देश में हजारों वर्षों से यह सुनी जाती रही, राज दरबार से लेकर अब तक, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कविता हमेशा सुनकर ही समझी जाय, और अपना प्रभाव छोड़े। मचीयता हिन्दी कविता का एक प्रमुख अंग अवश्य रही है। और जनमानस तक उसने कविता को पहुँचाया भी है, परन्तु उच्चकोटि की कविता सदैव गायी जाय, या मंच पर विदूषकीय तेवरों द्वारा सुनायी जाय। ये रचना की उच्चता की अनिवार्य शर्त नहीं है। न जाने कितनी ऐसी कविताएं हैं, जिन्हें केवल पढ़कर हम उसी रसानुभूति को प्राप्त कर लेते हैं, और इस प्रकार समधर्मीकरण की कविता की पहली शर्त पूरी होती रहती है। कण्ठनलीका प्रसाद जिस कविता की जान हो, वह कविता मेरी समझ में स्तरीय नहीं, स्तरीय तो वह है, जो हमे उस अलौकिक भावभूमि पर ले जाय। जहां मन मुक्त हो जाता है? और एक भव्यता की अनुभूति होती है। मेरी समझ से कविता तो प्रत्येक विधा की प्राण है। क्योंकि कविता जीवन का मूल है, और प्रत्येक बड़ा कहानीकार या गद्यकार अपने लेखन की प्रेरणा एवं परिणति काव्यत्व तक पहुंचकर ही प्राप्त कर पाता है। भाव यदि रचना में नहीं होगा, तो गद्य हो या पद्य वह जीवन्त नहीं हो सकता, और सच्ची जीवन्तता कवित्व की तेजी से ही आती है।

प्रश्न- आपकी दृष्टि में पूर्वकालीन साहित्य क्या राजनीति से प्रभावति हुआ है, या अब हो रहा है। पुरस्कारों की बन्दरबांद के सन्दर्भ में आप क्या कहना चाहेंगे?

उत्तर- पुरस्कारों की बन्दरबांट शब्द आज की पुरस्कार वितरण की दूषित राजनीति पर प्रकाश डालता है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी पुरस्कार पाने वाले की पात्रता न रखने वालों को दिए जाते हैं। लेकिन साहित्यक सरोकारों को एक किनारे रखकर जब इतर मापदण्डों से पुरस्कारों का निर्धारण होने लगता है तब ये पुरस्कार साहित्य के श्रेष्ठ सृजन के लिए घातक हो जाते हैं। मुश्किल यह हे कि आज राजनीति ने कृति को महत्व न देकर व्यक्ति को महत्व देना शुरू कर दिया है। दूसरी ओर प्रशासकीय शासन करती हुई राजनीलिक विचारधारा भी पुरस्कार वितरण पर हावी होती जा रही है। पुरस्कार प्रदान में इस प्रकार की

दलबन्दियाँ और इस प्रकार की सोच; सचमुच सच्चे साहित्यकार को इन प्रशासकीय अनुदानों अनुकम्पाओं के प्रति विमुख कर देता है। जो चारों ओर रेवड़ी की तरह बाँटी जा रही हैं।

अब तो लेखनी ही आजीविका है? और जीवन के अन्तिम दिन तक मैं लेखनरत रहना चाहता हूँ, मुझे लगता है जैसे मैं अभी कुछ लिख ही नहीं पाया। जिसे आप लेखन में सिद्धि मानते हैं, उसे मैं केवल अपने विकास क्रम की एक कड़ी मानता हूं। अभी न जाने कितने भाव कितने विचार कितने चरित्र कितने जीवनानुभव मुझे व्यक्त करने हैं। इतनी विराट् भारतीय मानवता और उसके अगणित संघर्ष साहित्य में उतारने हैं। मैं तो ये भी मानता हूं कि सच्चे साहित्यकार का जीवन उसके मरने के बाद प्रारम्भ होता है। ऐसा इसलिए कि इस देश में चारों ओर भ्रष्टाचार, पक्षपात जातिवाद, उन्मापरस्ती और स्वार्थों की लूट खसोट का जमाना है। साहित्यकार का धर्म है इस सारे सामाजिक और सांस्कृतिक प्रदूषण को उसकी सम्पूर्ण कुरूपता एवं जघन्यता के साथ उतारे। मुझे ऐसा लगता है कि मैने इसका एक अंश ही दिया है। आगे कितना कर पाऊंगा यह भविष्य के हाथ में है।

डॉ० रामविलास श

परिचय

हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक तथा मार्क्सवादी वि
शर्मा हिन्दी के शलाका पुरुष के रूप में सम्मान्य हैं। मा
एवं सौन्दर्यबोध इनकी विचारधारा का मूलबिन्दु है। हिन्द
की शक्ति के प्रतीक डॉ० राम विलास शर्मा का जन्म १०
ई० को उत्तर प्रदेश के आगरा जनपद में हुआ। मध्यमवर्ग
अवतरित होने के कारण आरम्भिक अवस्था में कुछ कठिना
तो स्वाभाविक ही था।

डॉ० शर्मा ने हिन्दी आलोचना का बहुमुखी विकास
की कसौटी पर मार्क्सवादी या प्रगतिशील आलोचना को कस
हरिश्चन्द, प्रेमचन्द, निराला, पन्त, रामचन्द्र शुक्ल, महावीर
प्रसाद द्विवेदी आदि का नई दृष्टि से मूल्यांकन किया। रच
जीवन आचरण में संगति स्थापित करते हुए उन्होंने सा

सॅवारा।

राम विलास जी की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं- 'निराला की साहित्य साधना, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्यायें, कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, भाषा युगबोध और कविता, लोक जागरण और हिन्दी साहित्य, विराम चिह्न, मानव सभ्यता का विकास, पंचरत्न, सन् सन्तावन की राज्य क्रान्ति और मार्क्सवाद, मार्क्सवाद त्रोत्स्की और एशियाई समाज, आर्य और द्रविड भाषा परिवारों का द्वन्द' आदि आलोचनात्मक कृतियाँ तथा निराला जी की श्रेष्ठ कविताओं पर सम्पादित 'राग-विराग' आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्य के सृजन में संलग्न डॉ० शर्मा 'हिन्दी अकादमी' एव 'हिन्दी संस्थान' के 'भारती भार' पुरस्कारों को ठुकराकर, अब दिल्ली में निवास कर रहें हैं।

परिवेश

प्रयाग के हिन्दुस्तानी एकेडमी का सभागार...। 'परिमल' द्वारा आयोजित 'केदार-अस्सी' की साहित्य सन्ध्या. . .। मुख्य अतिथि डॉ० रामविलास शर्मा का आगमन, गोष्ठी का शुभारम्भ. . . इतनी शीघ्रता से यह घटनाक्रम घटित हुआ कि कुछ पता ही नही चला। कितने स्नेही-श्रृद्धालु साहित्यजन इन समारोहो मे मिल जाते हैं। यह बात तो अगले कई वर्षों से चले आ रहे समारोहों से सर्वविदित थी। मुझे समारोह से दो दिन पूर्व जब इस आयोजन का आमंत्रण-पत्र मिला, तो प्रसन्नता की सीमा न रही।

मैं सोच ही रहा था कि इस साक्षात्कार वाली पुस्तक के लिए आलोचना विधा में किनका साक्षात्कार लिया जाय। मेरे स्नेही मित्रों ने दो ही नाम सुझाए थे, एक डॉ० रामविलास शर्मा, दूसरे नामवर सिंह। चूँकि आमंत्रण पत्र में डॉ० शर्मा के आगमन की बात मुद्रित थी। अतः मैंने प्रश्नावली तैयार कर ली, और इस कार्यक्रम में समय से ही आ गया। बाहर से अन्यान्य मित्रों, साहित्य प्रेमियो से भेंट मुलाकात में ही कार्यक्रम शुरू हो गया, अतः मैंने जो योजना बनाई थी कि- 'कि कार्यक्रम से पूर्व ही इस संदर्भ की बात करूंगा' विफल हो गई।

मैने जब सभागार में प्रवेश किया तो देखा, मंच पर डॉ० नामवर सिह भी विराजमान थे। भरपूर गम्भीरता के साथ कार्यक्रम लगभग दो-ढाई घन्टे चला। जब उसका समापन होने के करीब था, डा० नामवर सिंह, मंच से उठकर मेरे बगल में आकर बैठ गए। उनके बगल में डॉ० काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिह, मार्कण्डेय शेखरजोशी आदि बैठे थे। कुछ मिनट्सें तक उनसे भी बातचीत हुई

फिर वे समापन से पूर्व 'सिंह ग्रुप' के'साथ चले गए।. . .मेरी नजरं डॉ० शर्मा के द्वारा दिए जा रहे वक्तव्यों पर थी, मेरे कान उधर ही लगे थे।

इतने में तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उनका वक्तव्य खत्म हुआ, और कुछ औपचारिकताओं के बाद समारोह समापन की घोषणा हुई। लोग अपने-अपने स्थानों से उठे और वापस चल दिए। मैं शीघ्रता के साथ मंच से उतर रहे डॉ० शर्मा के पास पहुँचा। मैंने अपना एकांकी संग्रह 'मातृभूमि के लिए' उन्हें अर्पित करते हुए उनसे साक्षात्कार की बात कही। उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया, और अगली सुबह वाराणसी जाने की बात बताई। वे वहाँ दस-पन्द्रह दिन रूकने वाले थे, अतः उन्होंने मुझे वहीं आने का न्यौता दिया। मुझे दीपावली में घर जाना ही था। मेरा गाँव वाराणसी जाते हुए ही पडता है .।

भास्कर अपनी अरूणिम किरणों के साथ धरती पर उतर रहा था। दुबो की टुगों पर टंगी शबनम की बूदे आज कुछ और सुन्दर लग रही थी।.. शायद इसलिए कि आज दीपावली थी। मैं विस्तर पर बैठे-बैठे सोच रहा था- घर जाऊ की न जाऊं। अगर नहीं जाता हूँ, तो दो दिन बाद डाक्टर साहब दिल्ली चले जायेंगे, तो फिर उनसे मिलने के लिए दिल्ली जाना पड़ेगा।' चूँकि इधर दिन काफी व्यस्तता के चल रहे थे। अतः कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि चलूँ या न चलूं।

अन्ततः घर और डाक्टर साहब के मोह ने मुझे वाराणसी आने के लिए राजी कर लिया। घड़ी पर नजर डाली तो सवा आठ बज रहा था, मैं झटपट बिस्तर से उठा और शीघ्रतापूर्वक नित्यक्रियाओं से निवृत्त हुआ। स्नान ध्यान के उपरान्त खाना खाया। बैग में सामान सेट किया जेब में पैसे रखे... और चल पडा बस स्टैण्ड...। लगभग दस मिनट की पदयात्रा के बाद मैं बस स्टैण्ड पहुँच गया। सुबह होने के बावजूद भी अगल-बगल के घरो से धड़ाम-धड़ाम तथा अद्भूत गम्भीरत्ता भरी अनुगूँज सुनाई पड़ रही थी। इतने में बस आकर मेरे सामने रूक गई। मैं तुरन्त उसमें आरूढ़ हुआ. . .। बस खचाखच भरी थी, तिल रखने की भी जगह नही थी। फिर भी बगल में छत की तरफ बने दराज मे मैंने अपना वेग डाल दिया, और बीचोंबीच चुपचाप खड़ा हो गया।

सामने की सीटों पर देखा तो लिखा था- 'सासंद, विधायक, स्वतंत्रता सग्राम सेनानी' तथा दूसरी सीट के ऊपर 'मान्यता प्राप्त पत्रकारों के लिए रिजर्व सीट इनके आने पर इसे छोड़ना पड़ जायेगा।' मैं मन ही मन यह सोचने लगा कि अजीब जमाना आया है! टेढ़े की सब सुनते है. सीधे की नही। मैं भी

एक पत्रिका का सम्पादक हूँ। अन्य के लिए परिचय पत्र दे सकता हूँ स्वयं के लिए नहीं।. . . बस के साथ मन भी तीव्र गति से काली चिकनी सड़क पर दौड़ रहा था। . . .मन ने कुछ आगे सोचा। इसमे साहित्यकारों के लिए कोई भी रिजर्व सीट इसलिए नहीं है कि वे आन्दोलन नहीं कर सकते। मेरा आन्दोलन का अभिप्राय वर्तमान हिंसक आन्दोलन से है। जिसमें राजनैतिको की परोक्ष कुटिल चाल से कुछ ही क्षणों में बस की खिड़कियों के शीशे चकनाचूर हो जाते है। बस में आग लगा दी जाती है।. . . न कुछ तो चक्का जाम. . .आदि. . आदि।

मुझे खड़े-खड़े स्वयं को उतना कष्ट नहीं था, जितना कि यह सोचकर कि यदि कोई वयोवृद्ध साहित्यकार आ जाय तो उसे भी मेरी तरह खड़े-खड़े ही जाना होगा। क्योंकि वह विचारों से भले लड़ ले, मगर सीधे लड़-झगड़ नही सकता। इसीलिए इस प्रजातंत्र में उसकी दाल नहीं गल सकती। हाँ राजधानियो मे रहकर, राजनीतिज्ञों-मंत्रियों से गोटी बैठा कर भले थोड़ी-बहुत दाल गला ले। मगर सीधे-सीधे तो दाल नही गल सकती न. . .। वैसे सबके बस की यह बात भी तो नहीं है। ड्राइवर ने ब्रेक लगाई। बस गोपीगंज स्टेशन पर खडी हो गई। कुछ लोग उतरे, मुझे सीट मिल गई थी। मै इस बस का ऐसा अन्तिम यात्री था, जिसे बैठने की यहाँ सीट मिली हो। इससे पूर्व के बस स्टैण्डों पर चढ़ते-उतरते लगभग सभी लोग बैठ चुके थे। गोपीगंज में मिठाइयों व पटाखो की सड़क के किनारे लगी बड़ी-छोटी दुकाने सचमुच यह सिद्ध कर रही थी कि आज दीपावली है। सड़क के ही किनारे एक तरफ मिट्टी के दिए तथा कुछ अन्य बर्तन रख बेचनें को बैठे हुए गाँव के कुम्हार अनोखे अन्दाज में चिल्ला रहे थे।

कुछ लोग अपनी छतों पर बिजली के छोटे-छोटे बल्बों से गुंथित झालरे सजा रहे थे। कोई हाथों में पिलास लिए बिजली के तारों को जोड़-तोड़ रहा था। सभी अपने कामों में संलग्न थे। कितना उत्साह था उन लोगो में, यह देखते ही बनता था। सचमुच पूर्वजों ने सदियों से ऐसी परम्परा डाल रखी है कि बिना प्रेरणा के सभी अपना काम स्वयं करते हैं। खूब कमाई भी होती है, लक्ष्मी की पूजा यहां तक कि जुआ... आदि भी।

बस चालक ने हार्न बजाया। सभी बस से उतरे लोग अपने-अपने स्थान पर शीघ्रता से आकर बैठ गए। ...बस फिर मेल एक्सप्रेस बन गई। इस बीच पुस्तकें पलटता, नीदोंकी झपकियाँ लेता मै भी सरसराता बस के साथ हवा से बातें कर रहा था। सड़कों के किनारे लगी बबूलों की डालियाँ, यूकेलिप्टस, शीशम

और आम आदि के पेड़ों की पत्तियॉ, बस व बस में बैठे यात्रियों के गर्म मिजाज को अपनी हवा से सहला-सहला कर शीतल कर रहे थे।

लगभग डेढ़ घन्टे की मैराथन दौड़ के बाद आकस्मिक बस के ड्राइवर ने ब्रेक लगाया। एक हल्का सा झटका खाने के बाद मेरी निगाह ड्राइवर की सीट के ऊपर पेन्ट किए वाक्य पर गई। लिखा था- 'हिम्मते मरदाँ, मद्दे खुदा।' उसकी दाहिनी तरफ लिखा था-

"जिसे हम हार समझे थे, गला अपना सजाने को।
वही अब साँप बनके बैठे हैं, हमीं को काट खाने को।।"

विस्मय के साथ इन पंक्तियों से जहां हिम्मत बँधी, वही खिड़की से झॉककर जब देखा कि वाराणसी कैन्ट आ गया तो तन्मयता उद्भूत हुई और मैने चटपट कन्डक्टर से बकाया पैसे लिए और नीचे उतरा। जल्दी-जल्दी सड़क पार किया और टेम्पू स्टैन्ड पर पहुँच गया। दीपावली के नाते यात्रियों का बहुत कम आना जाना था। टेम्पू वाले मस्ती में खड़े यात्रियों की राह देख रहे थे।

तुरन्त मैनें घड़ी पर नजर डाली, ठीक पौने बारह बज रहा था, सूर्य की किरणें सीधे धरती पर आ रही थी। मैंने तुरन्त एक टेम्पू वाले से बात की और उसे रिजर्व कर लंका की ओर चल पड़ा। टेम्पू में मैं अकेला यात्री था। अतः टेम्पू के चालक ने यह सोचकर कि अब लंका जाकर ही रूकना है, टेम्पू पूरी रफ्तार से चलाना शुरू किया। फिर भी पेट के प्रति उसकी सहिष्णुता झंकृत होती रही। . . . किसी भी चौराहे पर . . . कहीं भी दो चार आदमी-औरतो को देखकर व ब्रेक लगाकर यह पूछ ही लेता, लंका... लंका... लंका चलबा हो .।' ना... के उत्तरों और संकेतों के बाद जय सियाराम बोलता वह आगे चल पड़ता, पुनः उसी रफ्तार में. . .।

मैं अगल बगल के घरों एवं दुकानो से झांकती वाराणसी की आभा देख रहा था। विश्वनाथ जी की यह नगरी रमणी की तरह भरपूर सजी हुई थी। बसों, ट्रकों, टेम्पू एवं मोटर साइकिलों की हुर्र-हार्र एवं ट्रैफिक पुलिस की सीटियाँ अनोखी किस्म की मनभावन ध्वनियाँ बिखेर रही थी। साड़ी एवं सर्राफो की दुकानें देखकर ऐसा लग रहा था जैसे भगवान शिव की यह नगरीं सत्यम् शिवम् से ज्यादा दुल्हन की तरह सजकर सुन्दरम् को सत्यापित कर रही थी। मेरे मन में उमड़ते घुमड़ते इन विचारों को आकस्मिक करारा झटका देकर टेम्पू चालक ने ब्रेक लगाया जिससे मुझे अपने आप संकेत मिला कि बनारस (वाराणसी) का लंका आ गया।

मैं टेम्पू से उतरा, उसको निर्धारित राशि अदाकर महामना पं० मदन मोहन मालवीय की विशाल मूर्ति के बगल से होकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विशाल द्वार की तरफ बढ़ा। एक रिक्शा चालक नौजवान को हैदराबाद कालोनी की ओर चलने के लिए राजी किया। मैं रिक्शे पर सवार हो गया और रिक्शा चालक अपनी मंजिल की तरफ द्रुतगति से चल पड़ा।

मैंने बैग में हाथ डाला, और यह पाया कि जिसमें डाक्टर साहब के घर का पता था। वह चीट छूट गई है, या कहीं खो गई। 'हिम्मते मरदॉ, मददे खुदा' की पक्तियाँ पुनः याद आयी। मैं चल पड़ा। मन शान्त था, चित्त प्रसन्न. . .। लगभग आधे घन्टे बाद हैदराबाद कालोनी में था रिक्शे वाले को किराया देकर मैंने एक प्रवक्ता साहब (कोई सिंह थे) के फ्लैट में प्रवेश किया। उनसे डॉ० साहब का नाम लेते हुए उनसे संदर्भित जानकारी लेनी चाही। उन्होने कहा- न आपके पास फ्लैट का नम्बर है, न ही उनके पुत्र का नाम, न ही विभाग का नाम... भई आप कैसे ढूँढ़ पायेंगे? हैदराबाद कालोनी बहुत बड़ी है।

मैं सोच में पड़ गया। पुनः पूछा- आप किसी शर्मा साहब को जानते है? उनका जवाब था। मेरे फ्लैट से ठीक पीछे उस सड़क पर आप जाकर पूछे। वहां कोई शर्मा साहब नए आए है। मैं अर्ध संतोष के साथ उन्हे धन्यवाद बोलते हुए उस सड़क पर चल पड़ा। लगभग एक, चक्कर लगा दिया, कही किसी भी शर्मा का लिखा बोर्ड (नेम प्लेट) नहीं मिला। हताश होकर जब वापस लौटनें लगा तो एक साहब अपने गेट के बाहर टहलते मिले। उनसे मैंने पूछा- उन्होंने दाहिनी तरफ दूसरे फ्लैट की ओर संकेत किया।

मैं उस फ्लैट की तरफ बड़ा, और ज्यों ही दरवाजा खोला, देखा- सामने कत्थई ऊनी टोपी-स्वेटर तथा धोती में स्वयं डाक्टर साहब बैठे कोई शब्दकोश पलट रहे थे। मैं प्रसन्नता के साथ आगे बढ़ा, उन्हें करबद्ध प्रणाम किया। उन्होने मुझे बगल के खुले बैठक खानें में बैठने का संकेत किया। कुछ ही मिनटों मे मैंने देखा 'वे चुपचाप आकर सामने के सोफे पर बैठ गए। मन- काफी प्रसन्न था, बस कष्ट था तो इतना ही कि चाय-पानी नहीं मिली।

मैंने अपना अभिप्राय बताया, वे सहर्ष तैयार हो गए। उन्होंने कहा- आप बगल में आ जाएँ और स्टूल पर कागज रखकर प्रश्नोत्तर नोट करें। मै उनके बगल में आ गया। स्टूल पर लम्बा चौड़ा पारदर्शी शीशा रखा था। जो उसकी पूरी परिधि को ढके था। उसके नीचे कुछ अखबार, एक-दो छोटे गुलदस्ते तथा कुछ अन्य सौन्दर्यवर्धक वस्तुएं धरी थी। मैंने प्रश्नावली एवं सादे कागज आगे रखा। फिर प्रश्न शुरू हुए और उसके बाद उनके उत्तर का क्रम चला. ।

साक्षात्कार

प्रश्नः- आपका साहित्यिक जीवन किस तरह विकासोन्मुख हुआ। कृपया उन संदर्भों का विवरण दें?

उत्तरः- हमारे गुरुजन हाईस्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक पढ़ने लिखने मे मुझे निरन्तर उत्साहित करते रहे। मेरे परिवार में मेरे बड़े भाई बहुत बड़े साहित्य प्रेमी थे। इन सबकी प्रेरणा से मैं लिखने लगा, फिर निराला जी से सम्पर्क हुआ, तब और भी योजनाबद्ध ढंग से मैं कार्यकरने लगा। इन मनीषियो के सहयोग से मुझे साहित्य साधना में सहायता मिली।

प्रश्नः- आपसे पूर्व साहित्य क्षेत्र में आलोचना की क्या स्थिति थी। आपने इस विधा को ही क्यों अपनाया?

उत्तरः- मुझे आलोचना लिखना अच्छा लगता था और जब मैंने लिखना शुरू किया, तब छायावादियों पर चारों तरफ से आक्रमण हो रहे थे। मुझे उनकी कविता अच्छी लगती थी। इस तरह मैं आलोचना के क्षेत्र में आ गया। उस समय कुछ तो पुराने आलोचक थे। जैसे- पद्म सिंह शर्मा, मिश्रबन्धु। कुछ नए ढंग के भी विद्वान थे, जैसे- रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी। शुरू मे मैंने इन सबको नहीं पढ़ा था। धीरे-धीरे जब मैं स्वयं आलोचक बन गया। तब मैंने आलोचना साहित्य के विकास पर ध्यान दिया। मैंने स्वयं को शुक्ल जी की पद्धति के निकट पाया। इसके सिवा छायावादी कवि जो आलोचना लिखते थे।, वे भी मुझे बहुत अच्छी लगती थी। प्रसाद व निराला जी ने उच्चकोटि के आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। कह सकते हैं. कि जब मैने लिखना शुरु किया, तब हिन्दी आलोचना काफी समृद्ध हो चुकी थी। इसका साहित्य काफी लिखा जा रहा था।

वैसे छायावादी कवियों की आलोचनाओं में विशेष आकर्षण था। क्योंकि वे सभी रूखे गद्यकार की तरह नहीं, वरन संयुक्त कवि हृदय से लिखी गई थी। अतः उनकी आलोचनाओं में काव्य रस का पुट सर्वाधिक झलकता था। पाठक उनके निबन्धों को पढ़ने में भी काव्य का आनन्द ही प्राप्त करता था। चूँकि मैं भी कवि था, अतः स्वभावतः उन सबने मुझे आकर्षित किया, और मै उनसे प्रभावित हुआ।

प्रश्नः- सुप्रसिद्ध आलोचक एस० पी० खत्री ने अपने ग्रंथ 'आलोचना'

मे लिखा है कि साहित्यकार का चरित्र विवेचन आलोचना की व्यापक परिधि मे आता है। उससे साहित्यालोचन में सहायता मिलती है। आप यह स्पष्ट करें कि आलोचना महज पाठकों को परितोष दिलाने के लिए ही है या साहित्यकार के प्रति जागरूक करने के लिए?

उत्तरः- सबसे पहले आलोचक के अपने सन्तोष के लिए उसके अपने बौद्धिक संस्कार के लिए आलोचना लिखी जाती है। उसके बाद आलोचक, पाठक और रचनाकार के बीच में सेतु का काम करता है। रचना तो पाठको के सामनें रहती है। परन्तु उसका महत्व, उसके गुण-दोष सबके सामने प्रत्यक्ष नहीं होते। इन्हे प्रत्यक्ष करना आलोचक का कर्तव्य होता है। इसीलिए मै आलोचना को काफी महत्व देता हूँ।

मुझे सबसे अधिक कविता प्रिय है। शायद इसलिए कि मैं स्वय कविताएं लिखता था। मनुष्यों का स्वभाव अपने ढ़ंग का होता है। किसी को चाट अच्छी लगती है। किसी को दूध-मलाई। इसीतरह किसी को कविता अच्छी लगती है, किसी को नहीं। किसी का स्वभाव विशेष प्रकार का है? इसका उत्तर तो कोई मनोवैज्ञानिक ही दे सकता है। अन्य समस्त विधाओं को उनके रूप में ही देखता हूँ। मुझे कविता अच्छी लगती है। इसका अर्थ ये नहीं है कि और विधा नहीं अच्छी लगती। जिस मनोयोग से मैं कविता पढ़ता हूँ। वैसे अन्य विधायें नही पढ़ता। हाँ मेरे लिए सभी विधाओं का साहित्य ग्राह्य है। परन्तु मैं समय बहुत कम दे पाता हूँ। वैसे अध्ययन के दौरान मैं सभी विधाओं का साहित्य खूब पढ़ता था। वैसे उस समय इतनी विधाएं नहीं थी। मूलतः कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध और उपन्यास आदि ही लिखे गए थे या लिखे जा रहे थे। थोड़ी-बहुत जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, एकांकी आदि का चलन हो गया था। परन्तु ये विधाएं अभी विकासोन्मुख ही थी। रचनाकारों का सार्थक प्रयास इनके विकास की तरफ था। लोग जी-जान से इनका साहित्य भरने में लगे हुए थे।

इधर न जाने क्यों? मेरा समकालीन साहित्य से आकर्षण कम हो रहा है। मैं बहुत कम समकालीन साहित्य पढ़ता हूँ। कभी मन में आया, तो उठा लिया दस-बीस पन्ने पढ़कर कर ही अनुमान लगा लिया कि यह किस कोटि का है। ज्यादातर मार्क्स, लेनिन, एंजिल्स आदि के साहित्य को ही पढता

हूँ, और उस पर काम करता हूँ। समय को ध्यान में रखकर मैं भरपूर अध्ययन आज भी करता हूँ।

प्रश्नः- हिन्दी के पूर्ववर्ती आलोचक का योगदान आप किस रूप मे स्वीकारते हैं।

उत्तरः- भदन्त आनन्द कौशल्यायन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, राहुल सांकृत्यायन, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्ति प्रिय द्विवेदी आदि का तो मै हिन्दी आलोचना में भरपूर योगदान मानता हूँ। परन्तु के० एस० असरफ का तो कोई योगदान मेरी समझ में नही आता। मैं समझता हूँ कि आपकी दृष्टि मे कोई योगदान असरफ का नहीं होना चाहिए। थोड़ी बहुत आलोचना लिख देने से थोड़ी काम चलता है। हाँ रवीन्द्रनाथ टैगोर और कौशल्यायन ने बड़ी गम्भीरता से आलोचनाए लिखी हैं। मैंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं हिन्दी आलोचना नामक पुस्तक में शुक्ल जी के योगदान की विस्तृत विवेचना की है। 'लोक जागरण और हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मैंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचना कर्म पर विचार किया है। 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' नाम की पुस्तक में जहाँ-तहाँ राहुल जी की इतिहास सम्बन्धी मान्यताओं पर मेरी टिप्पणियाँ हैं। रवीन्द्रनाथ पर मैंनें विस्तार से नही लिखा और भदन्त आनन्द जी ने तुलसी दास पर जो लिखा है। उस पर अपनी प्रतिक्रिया इसी पुस्तक में मैंने व्यक्त कर दी है।

प्रश्नः- आप किस साहित्यकार से ज्यादा प्रभावित रहे?

उत्तरः- मैं निराला जी से बहुत प्रभावित रहा और उन पर मैंने पुस्तक लिखी। जिसका नाम है-- निराला की साहित्य साधना। इसमें उनकी कृतियो की मैंने भरपूर मीमांसा की है।

निराला पर लिखी इसी पुस्तक को सर्वाधिक महत्व देता हूँ। पाठको ने इसे सर्वाधिक पसन्द किया। क्योंकि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को जैसा मैने पाया, ठीक उसी तरह उल्लखित भी कर दिया।

साहित्यकार अपने बल पर ही स्थापित होता है। अगर उसकी रचनाओं मे दम है तो वह निश्चित ही उसे स्थापित कर देंगी। समय के थपेड़े भले ही उसे तिरस्कृत करते रहे। यहाँ तो साहित्यकारों की ऐसी ही स्थिति है। आप स्वयं अच्छे साहित्यकार है जानते ही होगे।

वैसे निराला तो काफी तिरस्कृत थे। उनका स्वभाव भी कुछ दूसरे किस्म का था। सबको सम्मान देते थे, परन्तु उसका रूख अनोखा होता। वैसे भी साहित्यकारों में कोई विशेष नहीं पटती और वे तो सचमुच निराले आदमी थे।

प्रश्नः- आपकी कौन सी आलोचनात्मक कृति आप को सर्वाधिक प्रिय लगती है, और क्यों?

उत्तरः- सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पर लिखी, यही पुस्तक (निराला की साहित्य साधना) ही मुझे सर्वाधिक प्रिय है। क्योंकि इसे पाठकों ने खूब सराहा। जिसको पाठक स्वीकारें, वहीं कृति लेखक के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण होनी भी चाहिए। क्योंकि इस सन्दर्भ में पाठकों का निर्णय ही अन्तिम है।

श्यामनारायण पाण्डेय

परिचय

वीर रस के महाकवि पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय
मन में अजस्र उत्साह एवं जोश का संचार होने लगता है।
महाकवि भूषण के बाद अगर किसी ने वीर रस में उत्साह
सृजन किया। तो वे थे पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय। इसीलि
उन्हे आधुनिक युग का भूषण भी कहा है।

इस महाकवि का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमग
मऊनाथभंजन) के अन्तर्गत डुमगाँव (डुमराँव) में ७ अगस्त १९०
पिता के न रहने के कारण आपका आरम्भिक जीवन कष्टों मे बी
आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। अपने एक चाचा के सहयोग से
अध्ययन के लिए आये और संस्कृत में शास्त्री तथा आचार्य व
की। आप यहाँ माधव संस्कृत पाठशाला में प्रधानाध्यापक भी

आपकी त्रेता के दो वीर अब तुमुल) नामक प्रथम

ई० में प्रकाशित हुई। जिसका साहित्य जगत में भरपूर स्वागत हुआ। पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदीजी के सहयोग से जब आपका कालजयी महाकाव्य 'हल्दीघाटी' प्रकाशित हुआ, तो आप सम्पूर्ण साहित्य जगत में छा गए। उस समय आपकी यह कृति रामायण की तरह पढ़ी गई और अग्रेजी सरकार ने इसे जब्त करलिया इसके बाद जौहर, आँसू के कण, जय हनुमान, तोरण विजय, बालिवध, शिवाजी, रिमझिम, जय-पराजय, माधव, जय सुभाष, परशुराम आदि प्रकाश में आयी।

आपने वर्मा तथा नेपाल की विदेश यात्रा भी की। आपको अनेक सस्थाओं ने पुरस्कृत व सम्मानित किया। आपके कण्ठ मे जब वीर रस की कविता मंच से प्रवाहित होती, तो बड़े-बड़े योद्धा दाँतो तले अंगुली दबा लेते, और अनेकों होठ यह बुदबुदाने लगते कि माँ सरस्वती का इसे वरदान मिला है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय आपकी ओजस्वी रचनाओं ने तूफान मचा दिया था।

यह संयोग की ही बात है कि गणतन्त्र दिवस २६ जनवरी १९८९ ई० को इस महाकवि नें अपना पार्थिव शरीर छोड़ा और हमेशा के लिए इस संसार से स्वतंत्र हो गया।

परिवेश

फरवरी का महीना..., बसन्त का उफान जोरो पर था, क्या कहने...। सड़क के किनारे यूकेलिप्टस के लम्वे पेड़ अपनी सुगठित काया के अन्तिम छोर पर कोमल पत्तियों का ताज पहने लहरा रहे थे। ठिगनी बबूल की झाड़ियॉ अपनी बाँहो- अंगुलियों को एक में एक समेटे मारूत के झकोरो से प्रतिक्षण वल खा रही थी। लम्बे चौड़े खेतों के प्लाटों में पीली-पीली सरसों बिजली के बल्ब की भाँति प्रकाशपुंज बनी चमक रही थी।

गेहूं के खेतों की हरियाली, जो गूढ से गूढ़तम बनी अपनी सघनता मे सम्पूर्ण धरती को हरे वस्त्रों के सदृश ढक कर मानो इठला रही थी। जौ की बालियाँ, मटर के फल, चने की चाँदनी इस तरह से संकेतिक भाषा मे अपनी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति दे रहे थे, जैसे यह मौसम पृथ्वी पर पहली बार आया हो।

ऐसे प्रसन्नता एवं उल्लास के मौसम में मैं साइकिल से पण्डित श्यामनारायण जी के घर चल पड़ा। कच्ची सड़क से पक्की सड़क पर द्रुतगति से बढ़ता ट्रकों बसो की हुर्र-हार्र और गति से बचता-बचाता आखिर डुमराँव के चौराहे पर पहुच ही गया यह भी अजीब किस्मत थी इस यात्रा की निस

पर मैं कई बार आ-जा चुका था . . .। घर से थोड़ी दूर तक कच्ची सड़क . . . फिर पक्की, उसके बाद अन्तिम छोर पर फिर कच्ची सड़क . . .। लेकिन वह कच्ची सड़क काफी खतरनाक थी, कुछ दूर ईंट . . . फिर कंकड़ी, फिर मिट्टी, कहीं . . . कहीं बड़े-चौड़े गड्ढे . . .। इन सबके थपेड़े खाता उछलता कूदता मैं उनके घर पहुँच ही गया। बाहर साइकिल खड़ी करते ही उनके पौत्र महोदय मिल गये। फिर कहना ही क्या, सीधे छत के ऊपर पण्डित जी के अध्ययन कक्ष मे दाखिल हुआ। चूँकि मेरा उनका घरेलू सम्बन्ध था, इसलिए कोई आपत्ति नही थी। मैंने कमरे में प्रवेश करते ही देखा- स्वतंत्रता आन्दोलन के समय कायरों में जोश एवं मुर्दों में प्राण फूंक देने वाला वीर रस का महाकवि इतनी शालीनता से सो रहा है।

उनके पौत्र ने उन्हें जगाया, कहा- बाबा देखो कौन आया है? मैं सामने के स्टूल पर बैठ गया। उन्होंने धीरे-धीरे उठकर अपने दोनों हाथों से आँखे मली . . .फिर खिसक कर आदेश दिया। मुझे बैठते ही उन्होने पूछा-

कहाँ से आ रहे हो?

घर से सीधे चला आ रहा हूं।

इलाहाबाद से कब आये?

यही एक सप्ताह पूर्व . . .।

वहां के लेखकों का क्या हाल है?

सब ठीक है, यही महादेवी जी नही रही !

हाँ भाई ! अखबारों में पढ़ा था।

वैसे कभी-कभी रामकुमार जी आपको याद करते हैं।

अरे रामकुमार !

हाँ वही !

अरे भाई ! वे प्रोफेसर रहे हैं। अच्छे कवि नाटककार सब कुछ तो हैं।

मैंने अपने आने का संक्षिप्त कारण बताया, और साथ ही यह भी कि आपने अगली बार कहा था कि कभी समय लेकर आइए। मैं साक्षात्कार दूँगा।... ऐसा कि अब तक किसी ने भी नही लिया हो। ...सो अब आपकी सेवा मे हाजिर हूँ। अब आप बच तो नही सकतेहैं। हाँ यह अवश्य है कि मैंने आपसे पत्र देकर समय नही लिया इसके लिए क्षमा करियेगा सोचा कि गाव चल

रहा हूँ ! वे बीच में ही बोल पड़े। क्या फर्क पड़ना है? एक-दो रूपये की बचत ही हुई। आ गए हाल-चाल मालूम हुई। भई ! मै तो ऐसी जगह रहता हूँ, जहाँ अखबार भी दो दिन बाद पहुँचता है। जब कोई चिरपरिचित साहित्यकार आ जाता है तो सब ज्ञात हो जाता है। संयोग से लोग मुझ पर इस तरह की कृपा बनाये रहते हैं।

इसी बीच छोटी से कटोरी में पन्द्रह बीस बताशों के साथ पानी आया। हम दोनों ने खाया-पिया, इसी समय सामने पड़ी आलमारी पर दृष्टि पड़ी। जो किताबों से ठसाठस भरी थी। चारों तरफ की दीवारो पर तमाम अभिनन्दन एव सम्मान पत्र टँगे थे। एक तरफ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'साहित्य वाचस्पति' लटक रहा था। एक तरफ छोटा सा मन्दिर ...।

उन्होंने टोका- बड़े ध्यान से देख रहे हो। भाई ! यही सब देखोगे या पूछोगे भी। मैं अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हुआ। मन में बार-बार विचार गूँजते रहे, इस महाकवि को देश की जनता ने कितना सम्मान दिया। मैंने प्रश्नावली उन्हें पकड़ाई, और उत्तर नोट करता गया...। कुछ और प्रश्नों की जानकारी डाक से बाद में मँगवाया।

साक्षात्कार

प्रश्न- आपकी दृष्टि में काव्य क्या है। काव्य की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?

उत्तर- काव्य हृदय की आन्तरिक अनुभूति है। काव्य तो आत्मा की भाषा है। 'काव्य प्रकाश' के प्रणेता संस्कृत के महाकवि मम्मट ने यह लिखा है कि-

'काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्ये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे च ॥'

इतना ही नहीं हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरित मानस' के रचयिता तुलसीदास जी ने लिखा है-

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा ।'

अब इन तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य सचमुच ही आत्मा की भाषा है। जहाँ तक काव्य की प्रेरणा का सवाल है, तो मुझे मिडिल से ही काव्य के प्रति अनुराग था। कविता तो मैं पहले से ही लिखता था। परन्तु निखार बाद में आया। जिसमें अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक मान्यवर अमृतराय ने मुझे काफी सहयोग दिया।

प्रश्न- राष्ट्रभाषा हिन्दी की वर्तमान स्थिति से, क्या आप संतुष्ट हैं? यदि नहीं, तो इसके लिए सरकार, जनमानस तथा साहित्यकारों को क्या करना चाहिए?

उत्तर- वस्तुतः राष्ट्रभाषा हिन्दी सचमुच सभी भाषाओं से सर्वोपरि है। हालांकि राष्ट्रभाषा का पद उसी को प्राप्त होता है, जिसको बोलने व समझने वालों की अधिकता हो। भारत की लगभग ८०% जनता हिन्दी जानती है। सरकार व साहित्यकार दोनों के प्रयासों के बाद भी अभी भाषा पूर्णतः हिन्दी नही हो सकी। भला जनमानस इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी हो सकता है। साहित्यकार भी क्या कर सकता है, जब सरकार चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती।

प्रश्न- क्या आपकी दृष्टि में, राष्ट्रभाषा का विकास व संरक्षण वर्तमान सरकार द्वारा सम्भव है?

उत्तर- सरकार द्वारा क्या नहीं हो सकता। अगर वो चाहे तो कानून बनाकर अनिवार्य रूप से राष्ट्रभाषा लागू कर सकती है। परन्तु कौन करता है? भारत के अधिकतर सरकारी काम-काज अंग्रेजी में ही हो रहे है

प्रश्न हिन्दी के प्रकाशन व्यवसाय से लेखक व पाठक, दोनो प्रभावित होते हैं। इसे रोका कैसे जाय? आपकी दृष्टि में, लेखक, प्रकाशक व पाठक के अन्तर्सम्बन्ध सुदृढ़ कैसे होगे?

उत्तर- हिन्दी के प्रकाशन व्यवसाय से लेखक व पाठक, दोनों का प्रभावित होना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रकाशकों की स्वार्थपरता दोनों को ही क्षति पहुँचाती है। लेखक, पाठक व प्रकाशक के अन्तःसम्बन्ध तभी सुदृढ़ हो सकते हैं, जब प्रकाशक अपनी स्वार्थपरता से अलग हो जाय और अपने हक की ही धनराशि ग्रहण करें परन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है।

प्रश्न- भाषा का सवाल, यद्यपि समस्याओं के घेरे में उलझ चुका है। फिर भी मैं चाहूँगा कि आप इस विषय पर अपने जीवन के लम्बे रचनात्मक अनुभव के आधार पर कुछ बतायें, जो देश व समाज के लिए उपयोगी हो। क्या, आपको ऐसा नहीं लगता कि स्वतन्त्रता के बाद भी हम लोग भाषा की गुलामी के तहत जी रहे हैं?

उत्तर- आज से लगभग २०-२५ वर्ष पहले से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी पूर्णरूप से देश की राष्ट्रभाषा घोषित की जा चुकी है। हालांकि हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकारो के अलावा देश के अन्य सुदूर भागों के लेखक भी हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित करने में लगे हैं। इन तथ्यों से यह तो विदित है कि भारतयी लेखकों ने हिन्दी को अपनाया है। और थोड़ी-बहुत सरकार भी अपनायी है। परन्तु अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी अंग्रेजी ने हमें अपने खूनी पंजों में जकड़ रखा है। बडे नेता चाहकर भी हिन्दी नहीं ला पाते। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

प्रश्न- हिन्दी का स्वतन्त्र रचनाकार जब आर्थिक अभाव व जीविकोपार्जन के साधनों के अभाव में टूटने लगता है तो उसकी रचना प्रक्रिया प्रभावित नहीं होती? इस ह्रास को रोकने के लिए आपका क्या सुझाव है?

उत्तर- वर्तमान बेईमानी के युग में कुछ कहा नहीं जा सकता। कलियुग का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। जीविकोपार्जन की समस्या यद्यपि सबके लिए ही है, चाहे वह समाज का बड़ा आदमी हो या छोटा। जहाँ तक साहित्यकारों का प्रश्न है, तो उनके लेखन व व्यक्तिगत प्रोत्साहन हेतु कोई मददगार नहीं। अब का समाज इतना गिर गया है कि धन, धरती आदि के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि जैसे पवित्र सम्बन्धों को टूटने में देर नहीं लगती। तो यह समाज ऐसे लोगों की मदद कैसे कर सकता है। आर्थिक अभावों से तो सभी अच्छे साहित्यकार ग्रस्त रहे हैं। पर क्या करें, अपने दुःख को किससे कहें? वे कागज-कलम के जंजाल में ही लिपटना अपना कर्तव्य समझते हैं। भले

ही, वे इसमे न सफल हो पाये।

प्रश्न- अब मै आपके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कुछ बाते पूछना चाहता हूँ। क्या स्वतंत्रता-संग्राम से सम्बन्धित रहे? क्या आपनें सरकारी नौकरी की?

उत्तर- मैंने स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग नहीं लिया। परन्तु कविता द्वारा वीरों को सराहा। हाँ उसके साथ मैंने अपना बुलन्द स्वर मिलाया। मैने कभी सरकारी नौकरी नहीं की। मैं सदा स्वयं का रहा।

प्रश्न- वीररस की तमाम रचनायें, आपकी जनमानस में आयी और प्रतिष्ठित भी हुई। क्या, पूर्वाद्ध में किसी ने आपको प्रेरित किया और उत्तरार्द्ध में क्या आपने किसी रचनाकार को प्रेरित किया?

उत्तर- प्रारम्भ में 'राणा प्रताप' पर लिखने का विचार तो पहले से ही था। सो मैंने हल्दीघाटी लिखी। परन्तु बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी स्त्री पात्र पर महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो मेरे महाकाव्य 'जौहर' के पात्र का चयन स्वयं किया था। तब से अब तक मैं लगातार वीररस की पुस्तकों का ही सृजन करता आ रहा हूँ। वीररस मेरा प्रधान रस रहा है। जहाँ तक वीर रस की रचना प्रक्रिया के लिए किसी रचनाकार को प्रेरित करने का सवाल है। मैंने अब तक आपके अलावा अन्य किसी वीर रस के युवक कवि का परिचय तक नहीं प्राप्त किया। मुझे इस बात की काफी प्रसन्नता है कि मेरे बाद आप वीर रस की कड़ी को उजागर ही रखेंगे।

प्रश्न- इधर कई वर्षों से देख रहा हूँ कि आपका स्वास्थ्य निरन्तर गिर रहा है। अब तो आपको कानों से भी ठीक से सुनाई नहीं पड़ता, हर बात लिखकर ही पूछनी पड़ती है। इस स्थिति में, मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि लगभग सभी इन्द्रियों के जवाब देने के उपरान्त भी, क्या आप अभी कुछ लिखना चाहते हैं या लिख रहे हैं?

उत्तर- पिछले वर्ष से मैंने परशुराम पर एक महाकाव्य लिखना शुरू कर दिया है। वैसे, यह लिखने के लिए मैं कई वर्षों पहले से ही सोच चुका था। अगर ईश्वर चाहेगा, तो पूरा कर ही लूँगा। वैसे आगे का हाल कैसे बताया जा सकता है ! वह भी इस वैज्ञानिक युग में।

★ ★ ★ ★ ★

शिवानी

परिचय

सौराष्ट्र (गुजरात) की ओजस्वी भूमि पर सन् १९२३ ई० में उद्भूत एव कुमाऊँ निवासिनी कथालेखिका श्रीमती गौरापन्त 'शिवानी' हिन्दी साहित्य की धरोहर के रूप में ख्यात हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र (गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर) के संरक्षण तथा उनके द्वारा संस्थापित शान्ति निकेतन में उन्होंने शिक्षा ग्रहण किया एव, कलकत्ता विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की।

शिवानी जी मूलतः उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों से सम्बद्ध रही। कुमाऊँ एव गढ़वाल के पर्वतीय समाज से उनका पारिवारिक ताल्लुक रहा। यही कारण है कि उनका अधिकांश साहित्य तत्सम्बन्धित कथापात्रों की समस्याओं, मनोभावो एव प्रथाओं को उकेरता है। भावात्मक रूढ़िवादिता के स्तर पर सामाजिक एव आर्थिक समस्याओं से टक्कर खाती नारी के जूझारूपन को उनका कथासाहित्य बहुत ही सशक्त पक्षों के जरिए प्रस्तुत करता है।

बंगला की कथाशैली से प्रभावित एवं संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान भाष

शैली के मार्फत लोकोक्तियों एवं मुहावरेदार शब्दावली में सर्जित उनकी कहानियों, उपन्यास, संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त महज पुस्तकाकार ही नहीं, वरन् सुप्रसिद्ध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भी छाये रहे।

आपकी मुख्य प्रकाशित कृतियां इस प्रकार है- विषकन्या, करिये छिमा लाल हवेली, अपराधिनी, पुष्पहार (कहानी संग्रह), चौदह फेरे, श्मशान, चम्पा, क्रैंजा, भैरवी, कृष्णकली, रति विलाप, कालिन्दी (उपन्यास), वातायन (संस्मरण) आदि।

आपको गैरसरकारी तथा सरकारी अनेक पुरस्कारों द्वारा सम्मानित किया गया। आपकी रचनाएं अनेक भाषाओं में अनुदित हुई। आपने अनेक देशों की यात्रा भी की, तथा उससे अपने साहित्य को सँवारा। सम्प्रति आप लखनऊ में रहकर स्वतंत्र लेखन कर रही हैं।

परिवेश

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ की राजधानी एनेक्सी भवन (मुख्यमंत्री सचिवालय) की वे चक्करदार सड़के। यहाँ एक तरफ विधानसभा का पुराने पत्थरों से बना अहाता दिग्दर्शित होता है, तो दूसरी तरफ राज्यपाल के हरे गेट का उनका सचिवालय। इसकी अस्तव्यस्त सड़क पर जहाँ पार करने में दस-बीस मिनट लग जाते हैं। वहीं एनेक्सी के बगल से जाने वाली वह वीरान सड़क, जिस पर भूला भटका शायद कोई एक-दो स्कूटर से चलता दिख जाता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस सड़क के अगल-बगल कई विशिष्ट मन्त्रियों के आवास हैं। परन्तु विजन की अद्‌भुत नीरव शान्ति...। सड़क को अस्पृश्य भरी निगाहों से घूरते वितान की तरह भरपूर सख्ती से तने अशोक एवं देवदार के पेड़ बीरबल की खिचड़ी सदृश, सड़क से चालीस फिट ऊपर अपनी नन्ही-नन्ही पत्तियो द्वारा पंखा झलते है। गनीमत इस बात की है कि यह अक्टूबर का महीना है, भला गर्मियों में इन सड़कों की स्थिति क्या होगी? जब तवे के सदृश तपती काली सड़क किसी को भी भून डालने की उत्सुकता संजोये बाघ-चीते की तरह अदृश्य झपट्टा मारकर डराती धमकाती होगी।

ऐसी स्थिति में इन नन्हीं पत्तियों वाले पेड़ों की क्या बिसात? जो रवि किरणों से मुकाबला करें। स्वयं झुलसने के करीब तक पहुँचे, करूणार्द हवा का भी संवरण इनके बस की बात नहीं, इस वक्त तो वर्षा की नमी कायम है। दिन को सूरज तपता है, और रात को शबनम् की बूंदें समूचे उष्ण घावों पर मलहम का लेप कर देती हैं। बस वीरान पथ पर अपनी कोमल भावनाओं मे

खोया मैं सड़क के इस पार-उस पार पक्षी-विपक्षी नेताओं की नाम प्लेटें पढ़ता बढ़ रहा था। मन को बार-बार यह तथ्य कुरेदता कि अखबारों में एक दूसरे पर कीचड़ उछालनें वाले, युद्धनीति की घोषणा करने वाले ये नेता पड़ोस मे शान्ति से रह कैसे पाते हैं? शायद इन सबने खा-पीकर मस्त रहने एवं प्रदेश की जनता को मूर्ख बनाने का आपसी समझौता कर लिया है।

रिक्शाचालक ने स्मरण कराया- 'गुलिस्ताँ कालोनी जाना है न, साब...।' मेरी तन्द्रा टूटी, और आश्चर्य विमिश्र ध्वनि में बोल उठा- "हाँ... हाँ... वहीं...।' उसने उस चौराहे के सामने वाली ढ़लान की सड़क पर हवायी घोड़े की तरह रिक्शा मोड़कर छोड़ दिया। रिक्शा स्वयं अपनी गति से भाग चला, उस समय वह अपने पैरों को कभी दायें, कभी बाँये झटका देकर यह जता रहा था कि देखो पी० डब्ल्यू० डी० (सार्वजनिक निर्माण विभाग) की कृपा से तुम्हें आराम मिल रहा है। कुछ देर तक वह हरहराता हुआ नदी के जल की भाँति साफ-सुथरी सड़क पर बहता रहा।

परन्तु ढलान केबाद आगे चढ़ाई थी। उसके पाँव पुनः पैडिल पर यथास्थिति में यंत्रवत चक्कर काटने लगें। शायद इसलिए कि इस लड़ाई में विजय उसे मिल जाय, कहीं रिक्शा आगे की बजाय पीछे न लुढ़क जाय। पेट पूजा मे संलग्न उसके अभ्यस्त पाँव न जाने ऐसी-तैसी कितनी विजयें रोज हासिल करते रहें होगे। परन्तु उन्हें विजय का गरूर (घमंड) नहीं था। उन्हे तो बस सुरूर (चिन्ता-कर्म) था, अपने सत्कर्तव्य का। फुटपाथ की सौन्दर्ययुक्त हरियाली एवं गुलमुहर के पेड़ों से टपकती रक्त वर्णित सुमनों की आभा के विमोह से दूर उसका मन-मस्तिष्क मंजिल तक पहुंचने को व्यग्र था। उसने गुलिस्ताँ कालोनी की घुमावदार सड़क पर मन्द गति से पैडिल दबाने शुरू किए। मकान नं० ६० दिखा। मैंने कहा- तुम रूक जाओ... वह रुक गया और बोल उठा- आ गये साहब!

मैनें उसे पैसे दिये, और कहा- भई तुम जाओ, मैं ढूढ़ लूँगा। मेरी पुरानी आदत रही है कि अपनी परेशानी में किसी को साझीदार बनाना नही चाहतां . . .। उसने कुछ पैसे लौटाने चाहे, मैनें उसे उन्हें बतौर (पुरस्कार) स्वीकार करने का आग्रह किया। वह प्रसन्नता से उद्भूत मुस्कराहट के साथ वापस हो लिया और चौराहे पर रिक्शा खड़ा कर चाय की दुकानें पर बैठ गया। लेकिन उसकी नजरे राहगीरों (यात्रियों) पर थी। जो उन्हे पुनः हजरतगंज पहुँचा कर दुबारा उतने पैसे हासिल करे। जिन्दगी से पैसे की यह टकराहट और प्राप्ति की यह असन्तोषजनक मनोवृत्ति सहज ही इंसान को हैवान बना सकने में सक्षम

है।

मैंने लगभग एक मिनट में ही इतना सारा सोच लिया। सामने पार्क मे खेल रहे अधिकारी के बच्चों में से. एक को बुलाकर मैंने ६६ गुलिस्ताँ कालोनी का रास्ता पूछा- उसने कहा- किसके यहाँ जाना है अंकल (चाचा) मैंने कहा- शिवानी! सहज ही उसने प्रसन्नता से समुचित मुस्कराहट के साथ कहा . . . वो . . . जो कहानीकार हैं? मुझे हामी भरते ही उसने कहना शुरू कर दिया अकल । उस बगल वाली सड़क से चले जाइये। अन्तिम वाला फ्लैट उन्ही का है। सकेत से मंजिल तक पहुँचनें की पुरानी आदत के वशीभूत बढ़ चला... कुछ दूरी की पदयात्रा के बाद मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं भटक गया हूं। परन्तु दायें ६६ नं० काले पेन्ट से लिखा दिख गया। सामने एक सफेद कार खड़ी थी। चालक उसे साफ कर रहा था... मैंने उससे शिवानी जी का नाम पूछा। उसने इसे बताने में अपनी असमर्थता जाहिर की। मैंनें कहा- नं० तो यही है, उसने प्रत्युत्तर दिया आप अन्दर जाकर पूछ लें।'

कटीले तारों पर लटक रही बल्लरीदार लताओं के बीच के सँकरे रास्ते से गुजरता हुआ मै आगे बड़ गया । दस-बारह सीढ़ियाँ चढ़ी, देखा सफेद पेन्ट से पुते दरवाजे पर सफेद से ही लिखा है 'SIVANI' मैंने कालबेल दबायी। उसकी टिनटिनाती तीव्र ध्वनि बाहर तक सुनायी पड़ी। एक महिला बाहर आयीं, मैने शिवानी जी से मिलने का आग्रह किया। मैं उनके बैठके, जिसमें उनके 'पदमश्री' सहित अन्य पुरस्कारों एवं सम्मानों के स्मृति चिह्न एवं कुछ पदक टंगे थे, से होता हुआ उनके शयन कक्ष तक पहुँचा। जहाँ लगभग अस्सी वर्षीया साधारण पोशाक में शिवानी जी लेटी हुई थी। अगल बगल तथा एक छोटे से रैक पर ढेर सारी किताबे लदी थी...' और वे स्वयं उस समय अध्ययनरत् थी। साधारण औपचारिकता के बाद साक्षात्कार का कार्य प्रारम्भ हुआ।

साक्षात्कार

प्रश्न- हिन्दी साहित्य में स्वयं को आप किस रुप में स्वीकार करती है? क्या कविता से भी आपका लगाव रहा?

उत्तर- मैं कथा शिल्पी हूँ। ...और इसी रूप में मैनें अपने आप को हिन्दी साहित्य में उतारा। कविता तो सचमुच एक ऐसी स्थिति का पर्याय है, जिसे व्यक्ति की नैसर्गिक क्षमता कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रत्येक लेखक पहले कवि होता है, कल्पना उसी से उद्भूत होती है। उसमे यथार्थ का समावेश कर उसे हम कहानी बनाये या उपन्यास, यह हमारी क्षमता पर निर्भर है। साथ ही समय की माँग पर भी...। अगर कोई हजारी प्रसाद द्विवेदी, अमृत लाल नागर, यशपाल, जैनेन्द्र को गहराई से पढ़े तो उनके उपन्यासो मे उनका कवित्व झलकता मिलेगा।

प्रश्न- आपने भी बहुतायत उपन्यास लिखे। आपके कथापात्र कुलीन तथा सुशिक्षित होते हैं। उनमें ज्यादातर पहाड़ी संदर्भ और उस माहौल में पली सौन्दर्यराशि की छटा बिखेरती नायिकाएं असीम सुन्दर तथा मादकतायुक्त होती है। अपने 'कृष्णकली' उपन्यास में शायद नाम के कारण ही आपनें उसे काली कलूटी रखा। परन्तु नाक नक्श से आपने उसे भी सौन्दर्य की स्वामिनी दर्शाया। आश्चर्य तो यह कि वह आजीवन कुँवारी रही . . . और जीवन की अन्तिम साँस तक यह गीत गाती तथा सुनती रही-

'जोबना क सब रस ले गयो भँवरा

गूँजी रे गूंजी . . .।'

इनमें आपका उद्देश्य क्या रहा?

उत्तर- (गम्भीर मुस्कराहट के साथ) मेरे साक्षात्कार कई छपे, छपते रहते है। परन्तु इस तरह के सारगर्भित प्रश्नों की बौछार पहली बार हुई...। वो भी आप प्रश्न सीधे पूछ रहे हैं। बिना लिखें... खैर यह आपकी लेखन, अध्ययन क्षमता है। मैं सीधे आपके प्रश्नोत्तर पर आती हूँ।

सचमुच मैंने कई उपन्यास लिखे, और सबके पात्र लगभग कुलीन और पहाड़ी रहे। मेरे उपन्यास सुरंगमा, रक्ष्या, रति विलाप, कालिन्दी आदि में इस तरह के आख्यानों की भरमार रही। ऊपर वाले की कृपा से मैंने उच्च वर्ग मे जन्म लिया। 'कुमाऊँ' मेरी कर्म स्थली रही। पहाड़ी सौन्दर्य एवं वहाँ की नायिकाओं की जीवन्त रूप रेखा में सौन्दर्य की मैंने अद्भूत छटा अपनी आँखो से देखी है। संयोग से विधाता ने कुमाऊँ को अकृपण हाथों से सौन्दर्य प्रदान

किया है। वहाँ की शूद्र (निम्न वर्ग की चमार, पासी, बनजारे, नटिनी) महिला भी जहाँ तक हो सकता है, सुन्दर ही होती है।

मुझे कुलीन वर्ग की कुण्ठाओं एवं दुखो-सुखों का बहुत ही नजदीकी से देखने का अवसर मिला है। इसलिए मैंने ततृसम्बन्धित पात्रों की यथास्थिति का यथार्थवादी आकलन प्रस्तुत किया है। आप मेरे 'कृष्णकली' उपन्यास से इस प्रश्न का समाधान पा सकते हैं कि मैंने महज वाह्य सौन्दर्य को ही महत्व नही दिया। मैंने चरित्र के आन्तरिक सौन्दर्य से भी चेहरे पर चमक लाने की कोशिश की है। उसे मै अपने पात्रों का चरित्र उत्कर्ष ही मानती हूं।

जहां तक कृष्णकली का सवाल है, वह नायिका साक्षातरूप में जीवित थी। उसमें मैने उतनी कल्पना का समावेश नहीं किया। उसमें वर्णित लगभग सभी पात्र यथार्थ जीवन से ही सम्बद्ध है। मैने कथाक्रम को लचीला एवं आकर्षक बनाने के ध्येय के कुछ कल्पना की मिलावट कर डाली। यह 'धर्मयुग' मे धारावाहिक छपी और चर्चित भी रही।

प्रश्न- आपकी सृजनयात्रा कब और कैसे आरम्भ हुई? आपको खूब प्रचार प्रसार भी मिला। आपकी कहानियाँ ही नहीं, वरन् कई उपन्यास भी चर्चित पत्रिकाओं में धारावाहिक छपे जबकि बहुत सारे सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यास पुस्तक रुप में भी बड़ी कठिनाई से प्रकाशित हुए।

उत्तर- मैंने बचपन से ही अपने को भाग्यवादी महसूस किया . . . और उसी पर निर्भर भी रही। मैनें परिस्थितियों से समझौता भी किया और स्वतंत्र (मन से) जीवनयापन कर रही हूँ। यहाँ इतने बड़े (गुलिस्ताँ कॉलोनी) के मकान मे भी अकेली रहती हूँ। दो चार नौकरों एवं उनके बीबी-बच्चों के साथ . . .।

प्रश्न- विषयान्तर हो गया . . .। आपकी सृजनयात्रा का प्रश्न व तिकड़मी प्रकाशन नीति . . .।

उत्तर- हाँ . . .हाँ . . . याद है। मेरा पूरा परिवार साहित्य प्रेमी था। जब मैं बारह-तेरह साल की थी। तभी मैंने बच्चो की एक कहानी लिखी थी। जब मैं पढ़ने शान्ति निकेतन पहुँची, तो वहाँ बंगला में कहानी लिखने लगी। मेरी पहली-बंगला कहानी 'मरीचिका' थी। बच्चो वाली कहानी उसी समय 'नटखट' नामक पत्रिका में छप गई और 'मरीचिका' 'सोनार बंगला' नामक पत्रिका मे छपी।

मेरी पहली हिन्दी कहानी १९५१ में 'जमींदार की मृत्यु' नाम से धर्मयुग में छपी थी। शान्ति-निकेतन के साहित्यिक वातावरण से मेरा लेखन सामर्थ्यवान हो गया था। जिस 'तिकड़मी' शब्द का आपने प्रयोग किया, उस समय इसका

कोई अस्तित्व नहीं था। मेरिट पर ही तो रचनाएं छपती थीं। उस समय न तो आजकल जैसा तिकड़म था, और न ही इतने अधिक लेखक थे। उसी छपने के सिलसिले से मेरे उपन्यास भी धारावाहिक छपे और सराहे गए। मैं अनवरत लिखती रही। भई ! लम्बी सामग्री के प्रकाशन के लिए कान्टेक्ट तो करना ही पड़ता है। जो यशपाल तथा नागर जैसे लेखकों ने नहीं किया।

प्रश्न- आपके साहित्यमें 'संस्कृत' भाषा के प्रति विमोह खटकता है। भाषा की प्रांजलता को बनाये रखने के यत्न में आप उसकी सरसता का संतुलन खो बैठती हैं। आपके कुछ उपन्यासों की शुरूवात इस तरह होती है, जैसे ललित निबन्ध लिख रही हों। इस संदर्भ में आप क्या कहना चाहेंगी?

उत्तर- दरअसल, मेरे पितामह संस्कृत भाषा के प्रकांड विद्वान थे। मेरी माताजी भी गुजराती एवं संस्कृत की विदुषी थी। भारतीय संस्कृति के सुसम्बद्ध वातावरण में संस्कृत वाङ्मय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। कर्मकाण्ड से लेकर अध्ययन तक संस्कृत भाषा का वर्चस्व रहा। आपके कथनानुसार मैं चाहती तो उपन्यासों में भाषा की रवानी भरपूर सरसता के साथ रहने देती। परन्तु संस्कृत भाषा से मैंने जानबूझकर परहेज नहीं किया, तदनुरूप पात्रों से उसका प्रयोग करवाया। दाह-संस्कार में अपनी तरफ से संस्कृत के श्लोक पढ़वायें। इससे मेरे लेखन को अलग पहिचान बनाने में भी सहूलियत हुई।

प्रश्न- निश्चित रूप से स्वातंत्र्योत्तर काल में महिलाओं की शिक्षा एवं विकास का स्तर बढ़ा है। इससे उन्हें आत्मनिर्भर होने में भी सहूलियत हुई है। फिर भी उनकी सामाजिक मान्यताओं में कोई विशेष सुधार नहीं दिखता। उनका आत्मसम्मान आज भी किसी न किसी रूप से कुण्ठाग्रस्त है। स्वाभिमान के अतिरिक्त आधिक्य के कारण उसकी टकराहट के विस्फोट से वह आज भी ग्रस्त है। ऐसा क्यों?

उत्तर- महिलाओं का आत्म सम्मान स्वयं उनके द्वारा ही कलुषित हो गया है। वे इस तरह का साहस, जो कदाचित पहले व्याप्त था। जिसके कारण वे किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने में समर्थ थी, चुक रहा है, विधाता ने उनके शरीर की बनावट भी ऐसी की है कि वे अगर पुरूष से बलशाली नहीं तो कमजोर भी नहीं है।

यह अवश्य है कि महिलाएं कुछ अर्थों में पुरूष से भिन्न हैं। आज भी कुमाऊँनी या कहना चाहिए पहाड़ी महिलाएं किसी भी दुर्व्यवहार के प्रतिकार की सामर्थ्य रखती है। मजाल है कोई बदतमीजी कर सके। परन्तु आज के समाज का सूत्र बदरंग हो गया है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव एवं फिल्मों की नकली प्रेम क्रीड़ा से बौद्धिक वर्ग भी पथ भूल गया है। वह इतना भ्रमित हो गया है

कि क्षणिक सुख प्रलोभनों के आकर्षण में अपनी मान्यताओं को भुला बैठा है। उससे स्वस्थ समाज की आशा कैसे की जा सकती है? निश्चित ही स्वातंत्र्योत्तर काल में महिलाओं के विकास एवं शिक्षा दोनों का स्तर बढ़ा है। महिलाएं ऊँचे पदों पर आसीन हैं, परन्तु जीवन से समझौता नहीं कर पाती। स्वाभिमान की यही अस्तित्व टकराहट उनके अच्छेखासे जीवन को नरक बना देती है। भई, दाम्पत्य जीवन में आपसी समझौता तो करना ही पड़ता है न, कोई भी वस्तु दोनों को पसन्द हो भी सकती है, और नहीं भी। इसलिए एक दूसरे का ध्यान रखना तो पड़ता ही है। पढ़ी लिखी महिलाए इसी संदर्भ में असंतुलित हो जाती है।

प्रश्न- मुझे तो नहीं लगता कि तुलसीदास ने भी 'स्वान्तः सुखाय' लिखा है। अगर ऐसा होता तो 'रामचरित मानस' के अतिरिक्त तुलसी अन्य पुस्तके नहीं लिख पाते। क्या अपनी रचनाधर्मिता को आप उस रूप में ही लेती है? इस प्रश्न के तहत अपनी सर्वोत्तम रचनाओं का भी उल्लेख करें।

उत्तर- यह सत्य है कि हिन्दी या अन्य किसी भी भाषा का लेखक स्वान्तः सुखाय नहीं लिख पाया। लेखन तो एक नशा है। देखिए ! यदि ईमानदारी से कहा जाय तो लेखक इसलिए लिखता है कि लोग उसे पढ़ें, सराहे। उसके गुणदोषों की मीमांसा के बाद उसकी लेखन गति और बढ़ जाती है।

जहाँ तक मेरी रचनाधर्मिता का सवाल है, मेरा लेखन किसी भी नशे से कम नहीं है। मुझे बिना लिखे चैन नहीं आता। न लिखना मेरे लिये किसी बड़े अभिशाप से कम नहीं है। मैं पाँच दशकों से लगातार अपने पाठकों, समाज एवं प्रियजनों के लिए लिखतीं हूँ।

जहाँ मेरी सर्वोत्तम रचना का प्रश्न खड़ा होता है, वहीं अफसोस की एक लहर मानस पटल पर नर्तन करने लगती है। आप स्वयं एक अच्छे लेखक है, यदि आप से कोई प्रश्न करे कि आपकी सर्वोत्तम रचना कौन सी है?

प्रश्न- भई ! कोई ऐसी रचना तो हो ही जाती है जिससे हम सबके मन को विशेष परितोष प्राप्त होता है।

उत्तर- हाँ ! इस दृष्टि से मैं कह सकती हूँ कि मेरी मास्को, साइबैरिया की यात्रा पर आधारित 'चरैवेति' शीर्षक रचना (पुस्तक) बेहद अच्छी लगी थी। उसके अधिकांश भाग मैने साइबेरिया में ही लिखे थे। मैंने उसमें रूस और साइबेरिया के प्रान्तों को भारतीय प्रान्तो के समकक्ष रखकर उनका मिलाप कराया है। सचमुच यह पुस्तक मुझे प्रिय है। वैसे इसके अतिरिक्त मैंने जो भी लिखा भरपूर निष्ठा से लिखा। इसलिए अपनी संतान के समान मुझे सभी

प्रिय हैं।

प्रश्न- बार-बार साहित्यकारों के दायित्व एवं कर्तव्यबोध का प्रश्न उठता रहता है। सृष्टि के समस्त क्षेत्रों के इस हासयुग में मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं किसी भी समस्या के समाधान के दिशावाहक हम साहित्यकार किस प्रकार कोई नई सोच दे सकते हैं?

उत्तर- आज पश्चिमी सभ्यता के छिछोरेपन से आक्रान्त हमारा भारतीय समाज टूट रहा है। विघटन की यह स्थिति सब तरफ है। स्वयं साहित्यकार एव राजनीतिज्ञ भी इससे अछूते नहीं है। हमारे यहाँ सब कुछ था, परन्तु आदर्श पात्रों के चरित्र में अपने चरित्र को ढालने की ललक बहुत से पापो का अतिक्रमण कर जाती थी।

आज के इस ह्रास युग में लेखक का दायित्व बढ़ जाता है। आज ऐसे साहित्य की सर्जना की जानी चाहिए, जो अपनी संस्कृति के कटते जा रहे समाज को दिशाबोध दे। लोग अपने नैतिक मानवीय मूल्यों का स्मरण कर साहित्य में रूचि लें। उसमें उन्हें सामाजिक विसंगतियों से जूझने की सत्प्रेरणा मिले। यह सत्य है कि यदि साहित्यकार की लेखनी सशक्त होगी, तो वह अपना चमत्कार दिखाए, बिना नही रह सकेगी। इतिहास प्रमाणित करता है कि कई बार लेखकों ने अपनी कलम से क्रान्ति ला दी थी। भारतीय स्वाधीनता संग्राम इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। लेकिन दुःख इस बात का है कि आज हमारे पास पाठक ही नहीं है। हम लिखें तो किसके लिए लिखे। आज बहुत कम ऐसे लोग हैं, जो धूमिल, अज्ञेय, यशपाल, भगवती चरण, रेणु, बालकृष्ण भट्ट आदि को पढ़ते हों। उनका मनन किया हो। हम लोगो को जनमानस की मानसिकता से सम्बद्ध होकर प्रेरणाप्रद साहित्य की सर्जना करना होगा। दिशाहीन साहित्य का आज के युग में कोई महत्व नहीं।

प्रश्न- आधुनिक महिला लेखन के वर्चस्व को आप किस रूप मे स्वीकारती हैं। क्या आपको नहीं लगता कि ये अल्प महिला लेखिकाएं अब भी अपनी स्वतंत्रता को विस्मृत कर उसी पुरानी चाहरदीवारी में कैद हैं?

उत्तर- आजकल जो भी महिलाएं लिख रही है, अच्छा लिख रहीं है। कुछ कुंठाग्रस्त लोगों ने जो धारणा बना रखी है कि आजकल कुछ अच्छा नहीं लिखा जा रहा है, वह एकदम निराधार है। हाँ कुछ लेखिकाएँ कुंठाग्रस्त अवश्य हैं। उनका लेखन या तो चाहरदीवारी की [illegible] से सम्बद्ध है

या उन्मुक्त पाश्चात्य संस्कृति से। फिर भी उद्देश्यपरक लिखा जा रहा है। नए कथ्य एवं नई समस्याओं से उनके कथानक सम्बद्ध है।

प्रश्न- इधर नया कुछ लिखा जा रहा है। आप ने तो पत्र में लिखा था कि कुछ नयी पुस्तकें भी आयी हैं।

उत्तर- हाँ इधर दो पुस्तकें छपी है। एक 'कालिन्दी' उपन्यास और दूसरी संस्मरण पुस्तक 'एक थी रामरती'। इधर मैं 'शुचिस्मिता' नाम से शान्ति निकेतन पर आधारित संस्मरण लिख रही हूँ। वह अब पूर्ण होने वाला है, यह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक प्रकाशित भी होगा। जब तक अंगुलियों में ताकत है, तब तक कुछ न कुछ लिखती ही रहूँगी।

राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी

परिचय

हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य धारा के मूर्धन्य रचनाकार 'राष्ट्रकवि' नाम उपाधि से अभिहित पण्डित सोहन लाल द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिला के अन्तर्गत विन्दकी नामक कस्बे में २८ फरवरी १९०६ ई० को हुआ था। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा अपने जिले में तथा उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल० एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। वही ये पण्डित मदन मोहन मालवीय के सम्पर्क में आये, और हिन्दी कविता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन से भी जुड़ गए।

आपके लेखन की शुरूआत सन् १९२१ ई० में हुई, और पहली पुस्तक 'दूध बताशा' १९३० ई० में प्रकाश में आयी। इस तरह आपने बाल साहित्य से हिन्दी साहित्य जगत में प्रवेश किया। आपकी पन्द्रह से अधिक

बाल पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं।

१९४१ ई० में वयस्क कविता की प्रथम कृति 'भैरवी' का प्रकाशन हुआ। जिसका हिन्दी जगत विशेषकर राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्प्रेषित महानुभावों ने खूब स्वागत किया। इसके बाद 'वासवदत्ता, कुणाल, प्रभाती, युगाधार, वासन्ती, चित्रा, पूजागीत, विषपान, चेतना, मुक्तिगँधा, संजीवनी, सेवाग्राम, गाँध्ययन आदि का प्रकाशन हुआ।

आप दैनिक 'अधिकार' तथा मासिक 'बालसखा' के सम्पादक भी रहे। आपको राष्ट्रपति ने 'पद्म श्री', कानपुर विश्वविद्यालय ने डी० लिट०, राजस्थान विद्यापीट ने साहित्य चूड़ामणि आदि सम्मानों से सम्मानित किया। महात्मा गाँधी मदन मोहन मालवीय, जवाहरलाल नेहरू, इन्दिरा गाँधी आदि हस्तियों के आप बहुत निकट रहे।

एक बार भ्रमवश आपके जीवनकाल में ही (सन् १९८२ ई०) कानपुर के दैनिक पत्रों ने दिवंगत घोषित कर दिया था। उस अफवाह का खण्डन हुआ। आपका देहावसान १ मार्च १९८८ ई० को हुआ।

परिवेश

वैसे तो मैं फतेहपुर विन्दकी राष्ट्रकवि पण्डित मोहनलाल द्विवेदी से मिलने कई बार गया था। परन्तु अपने मित्र श्री कमलेश मिश्र जी के सहयोग से इस बार काफी सुविधा रही। श्री मिश्र पण्डित जी के पड़ोसी थे।

मैं प्रयाग से अकेले चला। सुबह की पैसेन्जर गाड़ी ठीक छः बजे चल दी। क्योंकि मेल एक्सप्रेस गाड़ियाँ बिन्दकी स्टेशन पर नहीं रूकती थी। रजनी अभी छिप भी नही पाई थी कि ऊषा ने उपने पंख फैला दिए। भाष्कर अपनी अरुणिम रश्मियों को बिखेर रहा था। तृणों की टुंग पर टँगी शबनम की बूदें धराशायी हो रही थी। प्रकृति ने यह कैसा समन्वय किया? मन क्लान्त. . ., यह सब सोचता, मै चुपचाप इंजन के छुक-छुक में अपने मन की गति मिलाता बढ़ रहा था।

रेल की रफ्तार के साथ सूर्य की रफ्तार काफी तीव्र गति से बढ़

रही थी। कुछ ही घन्टों में मै फतेहपुर के स्टेशन पर पहुँच गया... चाय वाले... मूँगफली वाले... समोसे लो... बीड़ी पान... ! आदि विक्रेताओं की रसभरी आवाजें कानों से टकरायी। सभी एक नए अन्दाज मे बोल रहे थे। गाड़ी रूकी थी, शायद किसी मेल ट्रेन को क्रास करना था। मैं प्लेटफार्म पर उतर गया। इधर उधर बढ़कर देखा। स्टेशन की विभिन्न दीवारों पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति विद्वानों के नारे (सोलोगन) लिखे थे। उसी मे एक पंक्ति थी 'हिन्दी देश की बिन्दी' उसके नीचें लिखा था, राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी।

मुझे बहुत प्रसन्नता हुई ! क्यों न होती . . . । जिसका नाम पेन्ट किया गया था, मैं उसी का साक्षात्कार (इन्टरव्यू) लेने जा रहा था। मेल क्रास हो चुकी थी। हमारी गाड़ी ने सीटी दी। मैं तुरन्त अपनें डिब्बें में आ गया। मन में तो एक बार दहशत हुई कि वही डिब्बा है न . . .। संयोग से वही डिब्बा था। इसे मेरे बगल में बैठे कुछ चेहरों ने प्रमाणित किया। देखा, मेरी सीट पर मेरा बैग पड़ा था, प्रसन्नता हुई कि किसी ने कम से कम कृपा तो नहीं की।

कुछ ही घन्टों में मैं 'बिन्दकी रोड' स्टेशन पर पहुँच गया। रोड पर टेम्पू एवं बसे बहुत कम चलती थी। फलतः मुझे ताँगे से बिन्दकी जाना पड़ा। ताँगे ने भी एक-डेढ़ घन्टे लगाये। कुल मिलाकर सुबह छः बजे का चला दिन को दो बजे पहुँचा।

ताँगे से उतरकर बिन्दकी रोड की पुरानी पतली गलियों से गुजरता हुआ घी बाजार पहुँचा। बिन्दकी अंग्रेजी जमाने से ही तहसील थी। लगभग सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व के बने भवन दुकाने आज भी अंग्रेजो की अनोखी वास्तुकला का परिचय दे रही थी। मैं सर्वप्रथम श्री कमलेश जी के ही घर गया। क्योंकि वे मुझसे एक सप्ताह पूर्व घर गए थे। मैं पहुँचा . . . वे बाहर ही बैठे मिल गए . . . हम दोनों को प्रसन्नता हुई। हालाँकि मैं एक वक्त का भोजन लेकर गया था। परन्तु उचित अवसर न मिलने से खा नही सका। उन्होंने दबाव दिया, और हम दोनो एक साथ भोजन करके उठे। मैंने उनसे अपनी बात बताई। वे तुरन्त जाकर पता लगा आये। राष्ट्रकवि जी सो रहे थे। ४ बजे उठने की सम्भावना थी। हमने द्विवेदी जी से साक्षात्कार के लिए

यही समय निर्धारित किया।

मैने आराम किया, और ठीक चार बजे एक साथ उनके घर पहुँचे। उनके दरवाजे के सामने लगभग ७० वर्षीय नीम अपनी पत्तियाँ फड़फड़ाकर हमारे स्वागत को तत्पर थी, हवा भी मन्थर-मन्थर चल रही थी, उनके पुत्र श्री प्रभुदयाल द्विवेदी ने हमें बाहर बैठाया, और मेरे प्रणाम के प्रत्युत्तर मे कहा- आप कल रख लेते। मैंने इलाहाबाद आज ही लौटने की बात कही। उनके ना के बाद भी राष्ट्रकवि जी का हाँ हुआ . . .। हम दोनों उनके बैठक में पहुँचे। वे रजाई ओढ़े तिरछे लेटे थे। एक तरफ सोफा लगा था। सामने एक लम्बी-चौडी स्टूल थी, जिसके नीचे ऊपर पुस्तकें ही पुस्तके . .। हम सोफे पर बैठे, और वार्ता शुरू हुई।

साक्षात्कार

प्रश्न- आपमें कविता लिखने की प्रेरणा कब और कैसे जागृत हुई? . . . और आप पर किसका विशेष प्रभाव रहा?

उत्तर- जब मैं यहीं फतेहपुर में सांतवी का छात्र था। तभी से छोटी-छोटी तुकबन्दिया करने लगा था। यह बात सन् १६७५ ई० के आसपास की है। हालांकि उस समय छपने-वपने की कोई व्यवस्था या सुविधा उपलब्ध नहीं थी।

जहाँ तक प्रेरणा का सवाल है; मैं गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस', मैथिलीशरण की 'भारत-भारती', जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' आदि से ज्यादा प्रभावित था। शंकराचार्य की 'दर्पण संहिता' का प्रभाव मुझ पर बाद में काफी पड़ा। उनके एक गीत का मैने अनुवाद भी कर डाला, उस गीत के बोल इस प्रकार थे- 'गोविन्द भज, गोविन्द भज, गोविन्द रे . . .।' यह फतेहपुर की आनन्द प्रेस में छपी, कहना चाहिए यही मेरी पहली प्रकाशित रचना भी थी। लेखन में परिपक्वता तब आनी शुरू हुई, जब मैं काशी (वाराणसी) गया।

प्रश्न- अपने बचपन की, तथा छात्र जीवन की कुछ उन धुँधली यादो को ताजा करें, जिनको आप भुला नहीं पाते हो।

उत्तर- मेरा जन्म इसी बिन्दकी (फतेहपुर) में हुआ था। प्राइमरी तक यहीं पढ़ा, इसी की मिट्टी में खेलकूद कर बड़ा हुआ, फिर फतेहपुर के राजकीय हाईस्कूल में प्रवेश लिया। अच्छे अंकों से हाईस्कूल उत्तीर्ण होने के बाद मै अपने बड़े भाई (श्री मोहनलाल द्विवेदी) के आदेश पर काशी पढ़ने चला आया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ही मैंने एम० ए०, एल० एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की।

जब मैं एम० ए० कर रहा था, तो उस समय हिन्दी विभाग में आधुनिक हिन्दी साहित्य के धुरन्धर विद्वान, साहित्यकार मेरे शिक्षक थे यथा- सर्वश्री पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, केशव प्रसाद मिश्र आदि. . .। बचपन में शतरंज खेलने एवं पतंग उड़ाने का बेहद शौक था। ताश भी खेलता था, परन्तु सिवाय मनोरंजन के लिए . . । और यह सब तब होता था, जब लिखने पढ़ने के बाद फुर्सत के क्षण होते थे। मेरे एक अध्यापक श्री बलदेव प्रसाद शुक्ल जी थे। जिन्होंने चरित्र निर्माण पर काफी बल दिया था।

उस समय काशी में खूब गोष्ठियाँ होती थी। उन दिनों लेखन मे मुख्यतया समस्यापूर्ति को काफी महत्त्व दिया जाता था। कोई कविता की एक

पंक्तियाँ पूछता, और उन्हीं मात्राओं में कविता में ही उसका उत्तर देना होता था। सन् १६२४ के आसपास की बात है। एक समस्यापूर्ति मैनें खड़ी बोली मे बहुत ही अच्छे ढंग से की थी। उस गोष्ठी के निर्णायक श्रीधर पाठक थे। उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे 'अधिकार' का सम्पादक नियुक्त किया। जिसमे कविता के साथ इधर-उधर की रिपोर्ट भी लिखनी पड़ती थी। वैसे मेरा सर्वाधिक झुकाव कविता की ओर ही था।

प्रश्न- उस समय इलाहाबाद की साहित्य चेतना किस कदर थी। आप को काशी ने ही प्रभावित किया, या इलाहाबाद की भी कुछ भूमिका रही?

उत्तर- अरे भाई ! तुम्हारा इलाहाबाद आज से नही, बहुत पहले से ही संगम है, वह भी साहित्य का। काशी के बाद मेरा ज्यादातर वक्त इलाहाबाद फतेहपुर और कानपुर में ही बीता है। इलाहाबाद उस समय भी संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की साहित्यिक सांस्कृतिक राजधानी थी। सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', हरिवंश राज बच्चन, श्यामसुन्दर दास, महादेवी वर्मा, फिराक गोरखपुरी, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', श्रीनारायण चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गोपाल शरण सिंह आदि तथा कभी-कभी जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, मन्मथ नाथ गुप्त आदि का भी जमावड़ा हो जाता था।

मिल जुलकर साहित्य चर्चा भी होती थी, और शैतानियाँ भी। एक बार की बात है, निराला और फिराक में साहित्य चर्चा शुरू हुई। वह साहित्य से उनके व्यक्तिगत लेखन पर आयी, और फिर हिन्दी-उर्दू पर . . .। फिराक ने कहा- 'तुम्हारी हिन्दी में कुछ नहीं है।' निराला नें तेज स्वर में गरियाते हुए कहा-'तुम्हारी उर्दू में कुछ नहीं है।' थोड़ी देर तक दोनों में आमने-सामने गाली-गलौज होती रही . . . और कुछ ही क्षणो में वे एक दूसरे को मारने दौड़े। बड़ी मुश्किल से किसी तरह उन्हे छुड़ाया गया। परन्तु दूसरे दिन जब वे मिले, तो ऐसा लगा, जैसे उन दोनों में कभी झगड़ा हुआ ही नही था। सुमित्रानन्दन पन्त बहुत ही शर्मीले स्वभाव के थे। लम्बा-लम्बा बाल रखते थे। एक बार 'निराला' ने बताया था कि पन्त उनके साथ रिक्शे पर बैठकर दारागंज गए। जब दोनों रिक्शे वाले को किराये के पैसे देकर निराला की कुटिया की ओर चल दिए निराला ने ध्यान नही दिया जब निराला लौटकर

हो? मैं जब 'नहीं' में जवाब दिया, तो किसी तरह उनकी कृपा से सी० आई० डी० वालो मे फुर्सत मिली।

मैं पक्का गाँधीवादी था। 'चल पड़े जिधर दो डग मग में' वाली मेरी कविता उस समय प्रकाशित हो गई थी। इस कविता को वियोगी हरि जी ने श्री घनश्यामदास बिड़ला को सुनाया। वे इससे प्रभावित हुए और उन्होने महात्मा गाँधी जी से मेरी मुलाकात कराई। इस तरह १६४१ ई० मे मैं महात्मा गाँधी जी से मिला। वे एक शलाका पुरुष थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखे जिसकी ओर गहराई से देख लेती, वह सम्मोहित हुए बिना नहीं रह सकता था। गाँधी जी के सहचर्य से ही नेहरू जी के भी सम्पर्क में मैं आया। वे पूरी तरह अहिंसक व्यक्ति थे, जो कहते थे, सो करते भी थे। एक बार उन्होंने (गाँधी) इक्कीस दिन का उपवास किया। मैंने पूछा- आप की शरीर बड़ी कमजोर होती जा रही है। ...आप !' उन्होंने बीच में ही बात काट दी और कहा- 'मै सेनानी हूं, ऐसे उपवासों से थोड़ी मरने वाला हूँ। मै गोली खाकर ही मरूँगा।'. सयोग से ऐसा हुआ भी।

प्रश्न- आपने बाल साहित्य भी खूब लिखा है, अपने गम्भीर साहित्य की तरह आपने अपने बाल साहित्य को बाल मानसिकता में किस तरह पिरोया?

उत्तर- जब मैंने बाल साहित्य लिखना शुरू किया, उस समय बाल साहित्य का हिन्दी में बहुत अभाव था। मैंने बच्चों के योग्य उनकी समझ लाया मनोहारी कविताएं लिखी। बड़े साहित्यकार ज्यादातर चिन्तनपरक एवं गम्भीर साहित्य की सर्जना कर रहे थे। थोड़ा बहुत पण्डित रामनरेश त्रिपाठी जैसे महाकवियो ने बाल साहित्य की सर्जना की।

आजादी के बाद मैंने एक पुस्तक लिखी 'चाचा नेहरू' जो कलकत्ता से छपी थी। उसे लेकर मैं नेहरू जी से मिलने गया। मैंने उसे उन्हे भेट किया, और कहा- 'पण्डित जी क्या मैं आपके पाँव छूं सकता हूँ? वे गुस्से से लाल हो उठे, और कहा- 'पैर छुओगे . . .' फिर सहज होकर कहा- 'तुम तो मुझसे ज्ञान में बड़े हो।' मुस्कराये और हाथ आगे बढ़ा कर बोले- 'हाथ मिलाओ ।' उनसे हाथ मिलाकर मैंने अपने को सराहा, और आज भी उसे सौभाग्य मानता हूँ।

प्रश्न आज के साहित्य सृजन के संदर्भ में क्या आप कुछ कहना

चाहेंगे? पुरस्कारों का वितरण एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी की दुर्दशा के संदर्भ में आपके क्या विचार है? और इस परिप्रेक्ष्य में क्या आप कुछ लिख पढ़ रहे हैं।

उत्तरः- आज के साहित्य का सृजन निरूद्देश्य है। न तो पूरा मनोरंजन उसमें समाहित है; और न ही शिक्षा का विषय। साहित्यकार अपनी ढफली अपना राग गा रहे हैं, पुरस्कारों की तो बात ही क्या? मुझे जनता ने राष्ट्रकवि की उपाधि, दी परन्तु सरकारी पुरस्कारों ने मुझे दूर रखा। खैर. . . मुझे शिकवा नहीं . . .। राष्ट्रभाषा हिन्दी की दुर्दशा के लिए हम सभी जिम्मेदार हैं। मेरी सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई है, अतएव मैं तो कुछ भी लिखने पढ़ने में असमर्थ हूं। बस बड़बड़ा सकता हूँ, परन्तु सुनता कौन है, कान रखकर भी सब बहरे हैं।

★ ★ ★ ★ ★

श्रीनारायण चतु

परिचय

हिन्दी के भीष्मपितामह नाम से प्रसिद्ध साहित्यकार चतुर्वेदी 'भइया साहब' का जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा जि मे २८ सितम्बर १८६३ ई० में हुआ। आपने इलाहाबा इतिहास में एम० ए० किया। लन्दन विश्वविद्यालय से डी० शास्त्र से एम ए० किया। आपकी साहित्यिक सेवाओं के लिए ने डी० लिट० तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद ने 'साहित्य वाचस्पति' से विभूषित किया। सामाजिक तौर कान्यकुब्ज इण्टर कालेज के प्रधानाचार्य पद से आरम्भ हुआ मध्यभारत के शिक्षा संचालक के पद पर सरकारी सेवा पुरातत्व विभाग के निदेशक भी रहे।

आपने लगभग दो वर्षो तक आकाशवाणी मुख्यालय में डिप्टी डायेरेक्टर जनरल पद तथा पाँच वर्षों तक उत्तर प्रदेश सरकार में हिन्दी अधिकारी के पद को सुशोभित किया। ये हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के अवैतनिक रूप से लगभग बीस वर्षों तक सम्पादक रहे।

आपकी अंग्रेजी में दो तथा हिन्दी में तीन हास्य-व्यंग और गद्य-पद्य में लगभग एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनकी कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के नाम इस प्रकार हैं।

पत्नी और धर्मपत्नी, मानस के साँचे में, राजभवन की सिगरेटदानी, साहित्यिक चुटकुले, विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें, मनोरंजक संस्मरण, आधुनिक हिन्दी का आदिकाल, छेड़छाड़, पावन संस्मरण आदि। भारत सरकार की ओर से आपको 'पद्म भूषण' तथा जनता की ओर से जनता का भारत-भारती पुरस्कार प्रदान किया गया। हिन्दी साहित्य की आपने विविध आयांमों में सेवा की तथा हिन्दी पत्रकारिता आपकी व्यग्यपूर्ण और यशस्वी रचनाशीलता से धन्य हुई। आपका देहावसान १८ अगस्त १९९० को उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हो गया।

परिवेश

आखिर मैं लखनऊ पहुँच ही गया ! गाड़ी चारबाग स्टेश पर ज्यों रूकी, एक हाथ में बैग दबाये मैं प्लेट फार्म पर उतरा . . . और बाहर आते ही टेम्पू वालों का मजमा . . .। पुरानी बादशाही इमारतों से आवेष्ठित यह लम्बा चौड़ा स्टेशन, परन्तु कहाँ जाबों बाबू . . . किधर चलबो साहब . .की आश्चर्य जनक शायरी . . .। मन में आया की इन टेम्पू वालों से कह दूँ . . . माफ करो भाई, तुमसे अच्छा तो ये रिक्शे वाले पूछते होंगे।

एक नजर घड़ी की तरफ डाली और सोचा, भाई ! न आव देखो न ताव . . . जल्दी टेम्पू पकड़ो और सुबह ही सुबह पकड़ लो पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी को . . .। नहीं तो वे महाशय खाकर लेटे, और कोई बहाना मार दिया, तब लखनऊ आते ही आते यही हाल होगा . . . न इधर के रहे न उधर के रहे।

मन ने निश्चय किया। महाभारत के भीष्म पितामह जैसे भी रहे हो, परन्तु यह हिन्दी का दुबला-पतला, छोटा-गोरा भीष्म पितामह कुछ दूसरे तरह की मिट्टी का बना है . . .। यह सोचते ही मैं जल्दी से सड़क की तरफ बढ़ा . . .। वह गणेशगंज जाने वाली टेम्पू, जिसमें चार-छः यात्री बैठ चुके थे...। मैं भी पूछ कर चुपके से बैठ गया...। भाग्य ने साथ दिया... शायद मेरी ही प्रतिक्षा में थी।... टेम्पू द्रुतगति से चल पड़ा... लगभग बीस-पच्चीस मिनट में गणेशगंज...। ड्राइवर ने ब्रेक लगाया, मैं चुपके से उतरा...। आखिर झगड़ा किससे करता... झगड़ना तो उस भीष्म पितामह से था न...।

फलतः मन में महाभारत के दुर्योधन की स्मृतियाँ संजोये उस सँकरी गली से चल पड़ा। जिसको शायद रात में मैं पार न कर पाता... न रोडलाइट न ही सफाई...। एक दो मोड़ों पर मुड़ते मैं आधुनिक ढंग के बने उस परिचित लोहे के दरवाजे के सामने खड़ा हो गया...। एकदम आश्चर्यचकित. . पिछली बार जब आया था... तो कालवेल लगी थी, अब उसकी जगह खाली.. । पॉचों अंगुलियाँ समेटी और धड़ाम से मुट्ठी बनाकर दरवाजे पर दे मारा।

...अन्दर से श्री वंशगोपाल पाण्डेय और पण्डित जी की मिश्रित आवाज आयी... कौन...? मैं कुछ बोलता कि तब तक पाण्डेय जी ने दरवाजा खोल दिया अरे! विजयानन्द...। अकस्मात कैसे... न चिट्ठी न पत्री...। मुझे ऐसा लगा कि पिछले छः महीने पूर्व की छाप इस बड़े भाई पर है...। हाँ भाई, कुछ आवश्यक काम था चला आया... और आप कैसे हैं?

उनका उत्तर सुने बगैर मैं अन्दर घुसा...। देखा-, पण्डित जी (श्रीनारायण चतुर्वेदी) अपनी छोटी सी लान में हरी घास पर बैठे अखबारों के पन्ने पलट रहे हैं। मैंने बरामदे में रखी तख्त पर अपना बैग रखकर उनके निकट बैठते हुए प्रणाम किया। सहसा वे पहचान नहीं पाये... बरामदे में खड़े श्री बंशगोपाल जी ने कहा-- अरे ! ये वही गाजीपुर वाले हैं, जिनके 'सम्बोधन' काव्य पर आपनें अभिमत लिखा था...।

वे मुस्कराये ओह ! श्यामनारायण पाण्डेय का अनुनायक ..। क्यों घर से आ रहे हो या से मैंने बताया तो उन्होंने कहा

तब पाण्डेय के स्वास्थ्य की जानकारी... मै बीच में ही बोल पड़ा... अच्छे हैं, पत्र आया था...।

वे प्रसन्न हुए...। मैंने अपना मन्तव्य बताया। एक बार तो उन्होंने नकारात्मक ढंग से मेरी बात टालनी चाही... बोले... भई मैं इस तरह के प्रचार के चक्कर में नहीं रहता... तुमने कहीं मेरा इण्टरव्यू (साक्षात्कार) छपा देखा है? मैने बात बदली... मैं देखने नही बात सुनने आया हूँ, इलाहाबाद से इसीलिए चला आ रहा हूँ। इसे आप बाल हठ ही समझे, मगर नकरात्मक... उत्तर...। वे पुनः मुस्कराये और उठकर अपने बैठक खानें में आ गए, यह बोलते हुए... मुझे वीर रस वालों से डर लगता है...। हम दोनों जमीन पर बैठ गए... लालकालीन पर उनका बिस्तर, अगल बगल बिखरी पुस्तकें... जलपान... चाय की चुस्कियाँ फिर प्रश्न... और उत्तर...।

साक्षात्कार

प्रश्न- पंडित जी ! आप हिन्दी के भीष्म पितामह माने जाते हैं। आपने लगभग ९० वर्ष की उम्र पार कर ली। लोग इस उम्र में दादा, बाबा का सम्बोधन चाहते हैं। परन्तु आप अपने को भैय्या साहब ही कहलाना उचित समझते है, ऐसा क्यों?

उत्तर- मैं आपके प्रथम प्रश्न से असहमत नहीं तो सहमत भी नही हूँ। लोग मुझे भीष्म पितामह कहते हैं तो वो उनकी मर्जी है। हाँ मैं ९० वर्ष पार कर चुका हूँ, फिर भी मेरी इच्छा दादा या बाबा बनने की नही है। मैं यह नहीं चाहता कि मेरे नाती-पोते मुझे दादा-बाबा कहें और धेवते-धेवती (लड़कियों के बच्चे) मुझे नाना कहें। इन शब्दों का प्रयोग सुनकर मुझे ऐसा लगता है कि मैं बूढ़ा हो गया। जबकि मैं अपने आपको नवयुवक के रूप मे ही कहलाना पसन्द करता हूँ। इसी कारण मेरे लिए भैय्या साहब का सम्बोधन उचित लगता है।

प्रश्न- हिन्दी साहित्य के सर्जनात्मक परिवेश में आप कब जुड़े और किन लोगों से आप प्रभावित हुए?

उत्तर- मुझे साहित्यिक प्रतिभा अपने पिताजी से विरासत में मिली थी। मेरे पूज्य पिता पण्डित श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा उस समय संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान और साहित्य के गणमान्य लोगों में से थे। वे इतने निर्भीक साहित्यकार थे, कि प्रशासन उनकी कलम से थर-थर काँपता था। उन्होंने अंग्रेजी राज्य की चाकरी में ही 'वारेन हेस्टिंग्स' नामक पुस्तक लिखी। अंग्रेजी सरकार ने उन्हे अपना कोप भाजन बनाया, फलतः उन्हें सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी।

अब आप यही समझ ले कि मेरे पूज्य पिता सिद्धान्त के कितने पक्के थे। शायद भय स्वयं उनसे भयभीत होता था और मैं तो उनका ही पुत्र हू, उनके ही हाथों से पला-बढ़ा । तो उनकी प्रवृत्तियाँ स्वयं मुझमें भी चली आयी। मैंने हिन्दी को विपुल साहित्य तो नहीं दिया, परन्तु जो भी दे सकता था उससे मैं अपने आप को संतुष्ट पाता हूँ। चूँकि पिताजी की मंडली मे बहुत से लेखक थे, ठीक-ठीक नाम तो याद नहीं, परन्तु मेरे मन पर उन सबकी छाप अब भी है।

प्रश्न- आप हिन्दी साहित्य के वयोवृद्ध साहित्यकारों में से हैं। कृपया

बतायें कि हिन्दी भाषा की वर्तमान स्थिति स्वतंत्रता के चालीस वर्ष बाद भी प्रशंसा के योग्य है?

उत्तर- कदापि नहीं; एक समय वह भी था, जब अंग्रेजी शासको के चंगुल में फँसी हिन्दी तड़प रही थी, मैं आपको बताऊँ, जब मैं उत्तर प्रदेश का शिक्षा अधिकारी था। उस समय अंग्रेजी शिक्षा सलाहकार ने आदेश दिया कि हिन्दी की पुस्तकें रोमन लिपि मे छापो। मैने इंकार कर दिया उसने जोर देकर कहा- तुम्हे यह करना ही होगा। मैंने कहा- यह मेरे हाथों से असम्भव है। मैंने उन्हे समझाने की भरपूर चेष्टा की, मैंने कहा कि हिन्दी में इतनी किताबें छप चुकी हैं, कि अब लार्ड मैकाले का अवतरण हिन्दी पर रोमन लिपि नही लाद सकता। अन्त में वही झुका। वैसे भी अपनी सरकारी नौकरी मे स्वराज्य प्राप्ति के बाद थी मैंने बहुत कष्ट सहा, परन्तु हिन्दुस्तानी बेसिक शिक्षा और साम्प्रदायिक पक्षपात के विरूद्ध मुझे बहुत ही दृढ़ता से संघर्ष करना पड़ा और आज भी कर रहा हूँ। परन्तु पता न क्यो कुछ चन्द पढ़े लिखे लोग, राजनेताओं की हाँ में हाँ मिलाकर हिन्दी पर अंग्रेजी और उर्दू थोपने मे लगे है। मैने तो उस समय अंग्रेजी का विरोध किया, जब सारा भारत अंग्रेजो का गुलाम था। और आज वोट नीति ने सम्पूर्ण राजनीतिज्ञों और राजनीति को पथभ्रष्ट कर दिया, इस माहौल में हिन्दी की कितनी दुर्दशा हो रही है, आप यह खुद ही समझ सकते हैं।

प्रश्नः- आपके समकालीन हिन्दी रचनाकार, जो आज काफी ख्याति पा चुके हैं। कुछ रचनाकारों को तो आपने स्वयं प्रस्तुत किया, कृपया इस संदर्भ में अपनी यादे ताजी करें।

उत्तर- मेरे समकालीन साहित्यकार अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी, मुकुटधर पाण्डेय, राहुल साकृत्यायन आदि थे। राष्ट्रीय चेतना के साहित्यकारों में दिनकर, राम नरेश त्रिपाठी, श्याम नारायण पाण्डेय, सोहनलाल द्विवेदी, सनेही आदि प्रमुख थे। इन सबने अपनी-अपनी सर्जनात्मक परम्परा डाल रखी थी। गोष्ठिया, समारोह सभी कुछ आयोजित होता था। लेकिन अनुशासित ढंग से। सबमें सम्मान की भावना थी।

निराला वैसे सबसे अलग थे, वास्तव में निराला . . .। एक बार लखनऊ आये, वैसे पहले मै जब दारागंज मे रहता था, तो काफी बात बतंगड़, होती थी। पागलों की तरह कभी-कभी निराला अभिनय करते। परन्तु जब लखनऊ में आये तो अजीब तमाशा किया। सुबह में जब सोकर उठा तो देखा

वह कसरत कर रहे थ। इतने म दूधवाला आया। वह भी हट्टा-कट्टा था। निराला उसे देखकर ताल ठोकने लगे और जोर देकर कहा- तुम भी पहलवान लग रहे हो अगर दम हो तो लड़ लो। वह खाँटी (असली) अहीर था। लड़ने को तैयार हो गया। मै तमाशा देखता रहा... उसने दूसरे झटके में निराला को पटक दिया। निराला ने हँस कर कहा- ठीक हैं अगली बार मैं पटकूँगा। उन्होने मेरा दूध उसे पिला दिया, और शाम को मुझसे बिना पूछे खाना खाने की दावत दे डाली। इस तरह का था निराला का व्यक्तित्व...।

श्यामनारायण की 'हल्दीघाटी' एवं सोहनलाल की प्रथम कृति 'भैरवी' मैंने ही छपवाई थी। इन सवने काफी यश भी पाया।

प्रश्न- साहित्य की विभिन्न विधाओं में आपने लेखन किया है। आप साहित्य की किस विधा को ज्यादा प्रासंगिक मानते हैं। साथ ही आपने किस विधा को ज्यादा बढ़ावा दिया?

उत्तर- मैंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में सृजन किया। परन्तु व्यग्य तो मेरी प्रवृत्ति बन गई। न जानें क्यों मुझे व्यंग्य में बड़ा आनन्द आता है। वैसे उसकी गम्भीरता बनाये रखना मै आवश्यक समझता रहा। मैंने हास्य व्यग्य की बहुत सी रचना लिखी। मैंने 'श्रीवर' नामक छद्म नाम से अत्यधिक लिखा। मेरी एक पुस्तक है 'छेड़छाड़' उसकी भूमिका की कुछ पंक्तियाँ सुनो -

'ऐ पढ़ने वालो सावधान !
इस तरकश में है व्यंग बाण,
इसमें साहित्यिक छेड़छाड़,
इसमें साहित्यक चीर-फाड़
पर हिंसा का हैं नही लेश,
क्यों हो विनोद में राग-द्वेष।
तूँ तर्क मान चाहे न मान
अज्ञान समझ या समझ ज्ञान।
पर पढ़कर हँस औ लूट मोद
यह कहता सविनय श्री विनोद।'

इस पुस्तक में व्यंग्य का पुट, खूब उभरा है। इसके अतिरिक्त एक अन्य संकलन 'रत्नदीप' में भी नए तरह की रचनाएँ लिखी हैं, एक उदाहरण-

'दरिद्र के जीर्ण जरा कुटीर में

किसान के श्यामल श्याम खेत में

विश्वास में निष्ठ प्रतिज्ञ भक्त के-

प्रसन्न होते घनश्याम देखे

दुखी जनों की गहरी उसास में

औ पीड़ितों की करूणार्द्र आह में

सहायतापेक्ष्य सनीर नैन से

हैं झाँकते श्री घनश्याम देखो।'

प्रश्न- कुछ विशिष्ट साहित्यकारों के मुखारविन्दु से मैंने सुना है कि आपने विनोद शर्मा नाम से भी कुछ हास्यपूर्ण कार्य किए, शायद कोई अभिनन्दन ग्रन्थ-ग्रन्थ का मामला था . . .।

उत्तर- जो मैं छिपाना चाहता था, वह तुमने पूछ ही लिया। कई वर्षों पूर्व की बात है, मैंने देखा, अभिनन्दन ग्रन्थ छपवाने एवं साठवीं वर्षगाँठ पर उसके विमोचन की प्रवृत्ति लेखकों में बहुत ही ज्यादा थी। मैंने इस प्रसंग को व्यग्य का रूप दिया इस पर पत्र व प्रतिक्रिया दोनों की एक पुस्तिका भी छपी है। मैंने एक पत्र बनाया था। मैंने उसे अति गोपनीय बताते हुए सुपरिचित साहित्यकारों के यहां भेजा, साथ में फर्जी पचहत्तर रूपये का चेक भी। मैंने उसमें विनोद शर्मा की दीनता को चित्रित किया था, कि उन्होंने अपने कई मित्रो से कहा कि मेरी साठवीं वर्षगांठ मनाई जानी चाहिए, परन्तु किसी ने नहीं सुना। उन्होंने अपनी सारी तैयारी स्वयं करनी शुरू की, अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन के लिए श्री बनारसी दास चतुर्वेदी से मिले, उन्होंने कहा कि मैं इस समय राजनीतिज्ञों के अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन कर रहा हूं। अतः आपके ग्रन्थ को समय नहीं दे पाऊँगा। अतः विनोद शर्मा ने स्वयं उसके सम्पादन का बीणा उठाया, इसीलिए उन्होंने पारिश्रमिक के साथ सबको पत्र भेजा। उसमें एक लाइन और भी थीं, कि यदि निर्धारित समय तक लेख या कोई प्रतिक्रिया नहीं आ पाती, तो उसे वे मौन स्वीकृति मान लेगें, और स्वयं अपने पर लेख लिखकर अभिनन्दन ग्रन्थ में छाप लेंगे।

इस प्रसंग की विशद् चर्चा हुई, और लोगों की प्रतिक्रियायें, रचनाए आयी। जिनमें सम्पूर्णानन्द,, निराला, हरिभाऊ उपाध्याय, मैथिलीशरण आदि सभी शामिल थे। कितनों ने चेक बैंक में डाला। परन्तु डिसानर हो गया। बड़ा मजा आया था, और असली आनन्द तब आया, जब मैंने सबका संग्रह छपवा दिया। यह उस समय काफी चर्चा का विषय था।

प्रश्न- आपने हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' का लम्बे अर्से तक सम्पादन किया। आप सम्पादन से संदर्भित तथ्यों से मुझे अवगत करायें?

उत्तर- सन् १६०० ई० मे जब 'सरस्वती' पत्रिका प्रयाग से छपने लगी थी। तभी से उसने साहित्य एवं समाज में नए चिन्तन का सूत्रपात कर दिया। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के उत्थान में अपनी सारी ताकत लगा दी थी। 'सरस्वती' को इसका बहुत बड़ा श्रेय है कि उसने सर्वाधिक साहित्यकार पैदा किए। उन्हें कलम पकड़ना सिखाया। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द मैग्जीन', 'नागरी प्रचारिणी' के बाद 'सरस्वती' ही एकमात्र ऐसी पत्रिका थी, जिसने हिन्दी को पल्लवित पुष्पित किया।

मैंने सरस्वती का २०-२५ वर्षों तक सम्पादन किया। मैंने एक बार पन्त की कविता रिजेक्ट की तो पन्त लड़ने चले आये। किसी तरह मामला शान्त हुआ। 'निराला' तो उनसे भी उस्ताद थे। सबको प्रथम पृष्ठ पर ही छपने का शौक था। इसके अतिरिक्त मैंने उसकी सम्पादकीय में तमाम तरह के प्रश्न उठाये, और सरकारी तंत्र की खिलाफत की। मुझे झेलना भी बहुत पड़ा, परन्तु सदा पानीदार बना रहा। मैंने किसी की परवाह नहीं की। मैं तो कहूँगा कि यदि तुम 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरे सम्पादकीयों का संग्रह कर डालो, तो यह भी साहित्य में तहलका मचा देनें वाली चीज होगी। मै तुम्हे 'तुम' से सम्बोधित करने लगा, कहीं बुरा तो नहीं मानते . . .। भई जो अपना नजदीकी होता है उसे . . .।

प्रश्न- (उनके प्रश्न का उत्तर नहीं में देते हुए) क्या आप वर्तमान समय मे कुछ लिखना चाहते हैं या लिख रहे हैं। वैसे आपके लेखन की तो महती आवश्यकता प्रतीत होती लग रही है।

उत्तर- क्या मेरी शारीरिक स्थिति लिखने की लग रही है? देख नही रहे हो, जमीन पर लेटे-लेटे लेंस से अखबार पढ़ता हूँ। आँखों की रोशनी अब जाती रही है। थोड़ी सी हिम्मत कर लान में बैठ जाता हूँ। थोड़ा बहुत हरी घास का आनन्द ले लेता हूँ। . . . और लिखू भी तो क्या लिखूँ . . . किसके लिए लिखूँ . . .। मुझे तो नहीं लगता कि पढ़ने वाले भी हैं। जो कुछ लिख दिया, वही काफी है। अब कुछ भी लिखने का मन नहीं करता... अस्तु...।

★ ★ ★ ★ ★
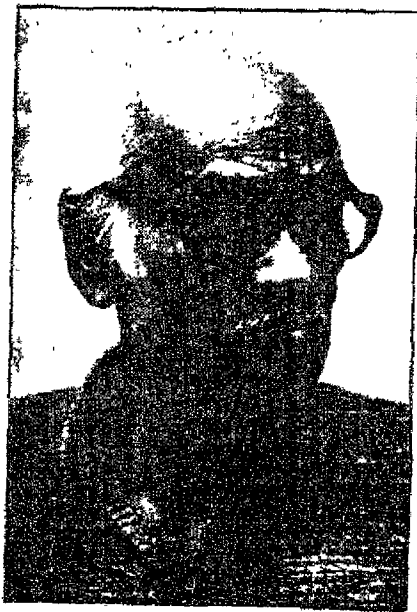
विनोद रस्तोगी

परिचय

कवि, एकांकीकार, नाटककार, उपन्यासकार, बाल साहित्यकार एवं रेडि लेखक के रूप में ख्याति प्राप्त रचनाकार विनोद रस्तोगी साहित्य जगत व एक अमूल्यनिधि हैं। उनका जन्म उत्तर-प्रदेश के फरुखाबाद जिले के शम्साबा नामक कस्बे में १२ मई १९२३ ई० को हुआ था। आपके पिता एक सम्प व्यवसायी थे। आपके जीवन की शुरूआत सम्पन्नता के वातावरण में हुई आपकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने शम्साबाद कस्बे में हुई। उसके बाद आप कन्नौ मे पढ़ने आये। अध्ययन में आपका बचपन से ही रूझान था।

कविता लिखने के साथ-साथ रंगकर्म में भी आपकी अच्छी पहल थी कुशल निर्देशक, अभिनेता आदि के सभी गुण आपमें विद्यमान थे। अतः कवित के साथ नाटक लिखने में आपको अतिरिक्त सहूलियत हुई। अतः विशेष रू

से आप नाट्य लेखन में जम गए। आपको उत्तर प्रदेश सरकार ने पाँच बार पुरस्कृत किया। थियेटर सेन्टर कलकत्ता, भारत सरकार का संगीत नाटक प्रभाग आकाशवाणी दिल्ली व महाराष्ट्र शासन नें भी आपको पुरस्कार दिए।

मित्रमण्डल कानपुर, अखिल भारतीय हिन्दी सेवी संस्थान, शोभना कला संगम दिल्ली, अमेच्योर आर्टिस्ट एशोसिएशन नागपुर, प्रयाग रंग मंच, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी और अभिषेक श्री इलाहाबाद द्वारा आपका सारस्वत सम्मान किया गया। रचना धर्म की सार्थकता को प्रमाणित करता आपका शिल्प, आपके ग्रन्थों की अपूर्वता को सत्यापित करता है।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें इस प्रकार हैं हिन्दी के गीत, अग्निपरीक्षा (काव्य), पुरूष का पाप, कसम कुरान की, बहू की विदा, निर्माण का देवता, काले कौए-गोरे हंस, स्वर्ग के खंडहर, गूँगी मछलियाँ, प्रमोशन, खाल की खाल, अपना-अपना दर्द (एकांकी संग्रह)। आजादी के बाद, नए हाथ, ढोंगी, छपते छपते, बर्फ की मीनार, जनतंत्र जिन्दाबाद, सराय के अन्दर (सम्पूर्ण नाटक), गोपा का दान, देश के दुश्मन (रेडियो नाटक संग्रह), सूतपुत्र (काव्य नाटक), भगीरथ के बेटे, नई लहर (लोक नाटक), ठंडी आग, दरारें, रूपया, रूप और रोटी, तूफान और तिनका, अँधेरी गलियां, दर का दर्पण, खण्डित छाया, राख हुए सपने (उपन्यास), गोलियों का जादू, कायाकल्प, बड़ों का झूठ (बाल एकांकी), टीले का चमत्कार, नौनिहालों की कहानियाँ, भारत के लाल, नया जन्म, क्षमा का दण्ड, चमत्कारी मंत्र (बाल कहानी संग्रह)।

इलाहाबाद के दारागंज मुहल्ले में सपरिवार रहकर आप आज भी अबाध गति से सृजनरत हैं। आज भी उनकी एकान्त साधना प्रेरणा का स्रोत है। थोथी अखबारी चर्चा और काफी हाउस में गप्पें लड़ाने से उचित वे अपने स्थाई सृजन को मानते हैं और वह ही सत्य भी है।

परिवेश

प्रयाग के अन्तिम छोर पर स्थित कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की निराली नगरी दारागंज पतित पावनी गंगा की लहरों की अद्भुत झाँकियों को समेटे यह मुहल्ला अपने आप में अनोखा है छोटी लाइन के रेलवे स्टेशन

पुल को पारकर चौड़ी काली सडक। चढ़ाई पर न जाने क्यों पतली होती चलती है? फुटपाथो पर रोजमर्रा की जिन्दगी जीने वालों की सारगर्भित चीखें, अन्तर की संवेदना को शब्दों में पिरोती गूँजती रहती हैं। अनायास, सेब, सन्तरें, मूँगफली, पेड़े आदि से सजे ठेले ग्राहकों की प्रतीक्षा में विक्रेता से कम उत्सुक नही दीखते, तभी तो छूते ही जमीन पर आ टपकते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के इस अनोखे मंजर में सीटी बसों, टैम्पूज आदि की हुर्र-हार्र यात्रियों को अपने ऊपर सवारी के लिए बुलाती अवश्य हैं, परन्तु पदयात्रा के लिए स्थान देना उचित नहीं समझती।

अन्ततः मैं इन्ही परिस्थितियों मे एक परिचित घुमक्कड़ बना चल रहा था। चढ़ाई पार की और निराला चौराहे पर पहुँचा। निराला जी की मूर्ति के ठीक सामने से जाने वाली सड़क पर उछलता-कूदता, मन में सार्वजनिक निर्माण विभाग द्वारा निर्मित इस उभड़-खाबड़, टेढ़ी-सँकरी सड़क के निर्माताओं को गालियां बकता बढ़ता रहा। एक तरफ चाय-पकौड़े, इडली-डोसे की गमक, उनके ऊपर प्रदूषण की संचार बनी भिनभिनाती मक्खियां, साड़ी, गहनों परचून की दुकानें, तो दूसरी तरफ आटा-चक्की, पुस्तक पत्र-पत्रिकाओं को छापने वाली प्रेसें तथा कुछ अन्य दुकानों से सजा यह मुहल्ला गाँव तथा शहर की मिली जुली संस्कृति की याद दिलाता है।

तिलकधारी पण्डों का तो यह गढ़ ही है शायद . . .। जिधर देखिए उधर से सफेद, लाल, पीले चन्दन का तिलक लगाये कोई न कोई चला आ रहा है। खासकर प्रयाग के कुम्भ या माघ मेले में तो इस सड़क से जाना मुश्किल हो जाता है। भारत के विविध अँचलो से आये यात्रीगण गंगा स्नान एवं नागवासुकी के प्रसिद्ध मन्दिर के दर्शनार्थ टेम्पू, बस, रिक्शे, ताँगे एवं बग्घियों पर सपरिवार लदे चले आतें हैं। कभी-कभी भूरे बाल वाले गोरे अंग्रेज एवं काले घुंघराले बालों के साथ ही साथ पूरे शरीर पर कालापन लिए अफ्रिकी या आस्ट्रेलियन भी दिख जाते है। गले में लटक रहे विशाल फोटोग्राफी कैमरे को कभी दुकानो, भीड़-भाड़ भरी सड़कों, भिखारियों, विक्रेताओं, पण्डों, कमण्डलधारी साधुओं पर घुमाकर लेंस में कैद करते हुए गंगा की पावन छवि एवं हरे-भरे गेंहू, जौ आदि के खेतों, सरसों के लहराते पीले फूलों के साथ नागवासुकी

के अन्तर-बाह्य परिदृश्यों की भी निगेटिव बनाते चलते है।

खैर . . . मैं तो कभी भी इस मुहल्ले में कैमरा लेकर नहीं आया। कोई ऐसी आवश्यकता ही नहीं दीखी। . . . और आज तो मैं हिन्दी के सशक्त हस्ताक्षर श्री विनोद रस्तोगी जी से मिलने आया था। उनका साक्षात्कार लेने . . .। मन में पहले से ही सोच कर चला था कि उनसे लम्बे -चौड़े बहुआयामी प्रश्नों का लम्बा-चौड़ा उत्तर लूँगा। अतः कुछ प्रश्नों को एक पृष्ठ पर अंकित करके घर से चल तो दिया था। परन्तु मन में अब भी कुछ निश्चित नहीं कर पा रहा था। बहुत सारे प्रश्न अब भी उमड़ घुमड़ रहे थे। सोच रहा था, लिखित प्रश्नों का उत्तर पूछ कर उसके साथ ही कुछ बढ़ाता चलूँगा।

आखिर टेढ़ी सड़क से कुछ दूर तक चलते हुए एक परचून की दुकान के पास रूका। उसके ठीक दायें तरफ खड़े बिजली के खम्भे के बगल से जाने वाली गली की ओर मुड़ा। एक तेजी से चले आ रहे स्कूटर से टक्कर खाते-खाते बचा, गली में थोड़ी दूरी तक आगे बढ़ता रहा। यह गली बहुत ही सँकरी है, परन्तु ईटों की जुड़ाई सीमेन्ट से हुई है। चूँकि यह ऊँचाई पर है, अतः गन्दा पानी तेजी के साथ भागता हुआ आगे बढ़ता हैं। अतः पानी नालियों में टिके न रहने के कारण कुछ हद तक स्वच्छता का परिचायक है। गली में भी शहर की संस्कृति नजर आती है, तो भला इसमें रहने वाले लोग भी तो उसी तरह होंगे। कुल मिलाकर उस गली से बाँयी तरफ एक बन्द गली में मुड़ा और उससे ठीक बॉयी तरफ लकड़ी का बोर्ड लगा दिखा 'विनोद रस्तोगी'।

न पूछना न जाँचना, धीरे से कालबेल दबा दी। दरवाजा खुला, श्रीमती रस्तोगी की आवाज, कहाँ से आये हैं, किससे मिलना है? मेरे अनुरूप उत्तर . . . सामने की बेड पर रस्तोगी जी का होना, उनको नमस्कार बोलते हुए मेरा उनके पास बैठना . . .। अत्यन्त अल्प क्षणों में सिनेमा फिल्म की तरह वह सारी प्रतिक्रिया हो गयी। बिस्तर से थोड़ी दूरी पर लगे वी०डी०ओ० से उनके पुत्र, पुत्रवधू तथा पौत्र, रंगीन हिन्दी फिल्मों का आनन्द ले रहे थे। मैंने उनसे आने का कारण बताया . . . उन्होंने प्रश्नों को पढ़ा और उत्तर

की संस्तुति दी। मैं वापस आ गया।

दूसरी बार निर्धारित समय से गया। उपरोक्त स्थितियों में ही उनका यह बैठक खाना मिला, परन्तु वे नहीं थे। आधे घन्टे बाद सब्जी लेकर आये। तबियत ठीक नहीं चल रही थी। रविवार के दिन, दिन के दो बजे पहुँचा था। लम्बी बातचीत हुई। इस बार भी वी०डी०ओ० पर रंगीन फिल्म चल रही थी, लेकिन दर्शक कम थे। फिर मैंने प्रश्न और उनके ये उत्तर प्राप्त किए, अतीव प्रसन्नता हुई।

साक्षात्कार

प्रश्न- आप साहित्य के क्षेत्र में कब और किस रूप में आये? उस समय साहित्य की कौन सी विधा सर्वाधिक लोकप्रिय थी?

उत्तर- मै मूलतः कवि हूँ, सबसे पहले मैंने कवितायें लिखनी ही शुरू कीं। यह १६४०-४१ की बात है। उन दिनों काव्य-विधा ही सर्वाधिक लोकप्रिय थी। पहले स्कूल-कालेज की पत्रिकाओं में कवितायें छपीं, फिर धीरे-धीरे हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी मेरी कविताओं का प्रकाशन होने लगा।

प्रश्न- शायद युवावस्था में प्रेम-गीतों का सृजन किया ही होगा।

उत्तर- श्रृंगार-परक गीत अवश्य लिखे। उम्र का तकाजा था, लेकिन शीघ्र ही काल्पनिक प्रेमिका के मिलन-विछोह से मोह-भंग हो गया। तब मैंने जिन्दगी के गीत गाये . . .। जमीन से जुड़े जिनमें राष्ट्र-प्रेम की भावनायें थी, दासता से मुक्ति की चाह थी। यह नयी दृष्टि मुझे अपने काव्य-गुरु सनेही जी से मिली। उनके साथ कवि-सम्मेलनों में जाता था। उन दिनों कवि-सम्मेलनों की धूम थी। पैसा तो अधिक नहीं मिलता था, परन्तु मान-सम्मान खूब मिलता था।

प्रश्न- सनेही जी तो कानपुर में रहते थे। आप . . .

उत्तर- मैं १६४२ में कानुपर आ गया था। डी० ए० वी० कालेज में बी० ए० का छात्र था। सनेही जी कविता की पत्रिका 'सुकवि' निकालते थे। "सुकवि" कार्यालय में ही जनवादी कवि शीलजी से भेंट हुई। मैं शील जी की रचनाओं से काफी प्रभावित हुआ और १६४७ के बाद, पूँजीवादी शोषणों के विरुद्ध कवितायें लिखने लगा। सामाजिक विसंगितयाँ भी मेरे काव्य का विषय बनीं। हाँ, मैं निराशावादी कभी नहीं रहा। मेरी कविताओं में संघर्ष का आवाहन था। आशा, विश्वास और आस्था की किरन थी। मैं अंधकार का नही, प्रकाश का गायक था। कुछ समय तक प्रगतिशील लेखक संघ में भी रहा, बाद में अलग हो गया। उस काल में लिखी गयी मेरी चुनी हुई कवितायें "जिन्दगी के गीत" में संग्रहीत है। बाद में एक खंडकाव्य भी प्रकाशित हुआ- "अग्नि-परीक्षा"।

प्रश्न- नाट्य-क्षेत्र में आने के बाद कविता लिखना क्या एकदम बन्द कर दिया?

उत्तर- नही, ऐसा तो नहीं है। अब भी लिखता हूँ। "धर्मयुग", "साप्ताहिक हिन्दुस्तान", "विशालभारत", "अजन्ता" आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही है। बच्चों के लिए भी गीत लिखे हैं और फिर, कवि होने का लाभ नाट्य-लेखन में मिलता है।

प्रश्न- वह कैसे?

उत्तर- नाटक स्वयं काव्य है- दृश्य-काव्य। मैंने लोक-नाट्य भी लिखे है। जिनमें संगीत मुख्य तत्व होता है। यदि कवि न होता तो नौटंकी के छद या लोक-धुनों पर आधारित गीत कभी नहीं लिख सकता था।

प्रश्न- जहाँ तक मेरी जानकारी है, आपने उपन्यास भी तो लिखे हैं। आपमें उपन्यास लिखने की वृत्ति किस कारण से उत्पन्न हुई?

उत्तर- आपकी जानकारी गलत नहीं है। कवि के रूप में साहित्यिक जीवन शुरू हुआ। उन दिनों कविता प्रकाशित तो होती थी पत्र-पत्रिकाओं मे परन्तु, पारिश्रमिक नहीं मिलता था। जीने के लिए पैसा भी चाहिए। सो उपन्यास लिखे। छपे भी और पैसा भी मिला।

प्रश्न- नाट्य-क्षेत्र में कैसे आये? क्या अभिनय की कला आप पहले से जानते थे। आपको इसके लिए किन-किन रूपों में संघर्ष करना पड़ा?

उत्तर- अभिनय तो विद्यार्थी जीवन से ही करता था। फिर निर्देशन भी करने लगा। स्कूल-कालेज के मंच पर धार्मिक और ऐतिहासिक नाटकों की प्रस्तुतियाँ ही होती थीं। लड़के ही लड़कियों का अभिनय करते थे। मैंने भी महिला-पात्रों की भूमिकायें की हैं।

१९४४ में बी० ए० किया। १९४५ में उत्तर प्रदेश सरकार की नौकरी में आ गया- वहीं कानपुर में। नाटक करने का शौक था ही। सो नगर के युवा कलाकारों को लेकर नाट्य-संस्था बनायी। निश्चय किया कि ऐतिहासिक अथवा पौराणिक नाटक नहीं खेलेंगे। सामाजिक यथार्थ से जुड़े नाटकों की खोज की। निराशा ही हाथ लगी। स्वनामधन्य पं० अमृतलाल नागर के अनुज पं० मदन नागर मेरे मित्र थे। एक बार मैंने नागर जी के सामने अपनी समस्या रक्खी। नागर जी ने स्वयं नाटक लिखने का परामर्श दिया। बस, उनका आशीर्वाद लेकर पहला पूर्णकालिक नाटक लिखा "आजादी के बाद"। इस नाटक में, आजादी के बाद, देश में पनपे भ्रष्टाचार, नेताशाही

और नौकरशाही के गठबन्धन, पूँजीवाद से उत्पन्न आर्थिक विषमताओं का चित्रण है। नाटक के नायक की मान्यता थी कि यह आजादी झूठी है क्योंकि यह सघर्ष से नहीं, भिक्षा में मिली है; सच्ची आजादी तो अब आनी है। रिहर्सल शुरु हुई। मगर कलाकारों के परस्परिक द्वेष-दंभ के कारण नाटक का मचन नहीं हो पाया। यह नाटक १९५३ ई० में छपा और १९५४ ई० में उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ। इससे बहुत प्रोत्साहन मिला और मैं पूरे मनोयोग से नाट्य-लेखन के क्षेत्र में आ गया। बाद में यह नाटक कई प्रदेशिक भाषाओं में अनूदित हुआ और इसका मंचन अनेक नगरों में हुआ।

प्रश्न- यदि पुरस्कार न मिलता तो क्या आप और नाटक न लिखते? क्या आपको आरम्भ में प्रकाशन की परेशानी नहीं हुई? क्योंकि लिखने से ज्यादा तो प्रकाशन की उलझने सताती हैं।

उत्तर- मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूँ। "आजादी के बाद" मेरा पहला नाटक था। कोई प्रकाशक उसे छापने के लिए तैयार नहीं था। प्रकाशक चाहते थे ऐसा पौराणिक सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक नाटक जो पाठ्यक्रम मे लग सके। सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ का नाटक छापने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। इसलिए मैंने उसे 'कमला प्रकाशन' के नाम से स्वयं छापा- गाँठ की पूँजीलगाकर। पुरस्कार-राशि से मुझे अपना एकाकी-संग्रह "पुरुष का पाप" छापने का आधार मिल गया और उसके बाद मार्ग की सभी बाधायें दूर हो गयीं। प्रकाशक स्वयं नाटक, एकांकी-संग्रह की माँग करने लगे।

प्रश्न- पूर्णकालिक नाटकों के अलावा आपने एकांकी-नाटक भी लिखे है?

उत्तर- जी हाँ ! मेरे दस एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुये हैं। दो रेडियो-नाटक-संग्रह भी हैं।

प्रश्न- एकांकियों और रेडियो-नाटकों के बारे में बात बाद में करेंगे। पहले पूर्णकालिक नाटकों के बारे में ही बताइये। आपका दूसरा नाटक कौन सा है? उसे कब और क्यों लिखा?

उत्तर- "आजादी के बाद" का मंचन हम लोग नहीं कर पाये थे। सोचा पहले एकांकी ही खेले जायें। सो अपने पाँच एकांकियों का मंचन किया। जिनमें २०-२५ कलाकारों ने भाग लिया था। महिला कलाकारों की सहभागिता के कारण 'एकांकी महोत्सव' चर्चा का विषय रहा। उन दिनों एकांकी ही लिखे

जो पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होकर खूब चर्चित हुये।

१९५६ में कलकत्ता के थियेटर सेन्टर ने पूर्णकालिक नाटकों की अखिल भारतीय प्रतियोगिता आयोजित की। मित्रों के आग्रह पर उस प्रतियोगिता के लिए नया नाटक लिखा- "नये हाथ"। नाटक १९५७ में पुरस्कृत हुआ। प्रसिद्ध रग संस्थान 'अनामिका' ने उसका मंचन किया। पहले कलकत्ता में, फिर दिल्ली मे। संगीत नाटक अकादमी दिल्ली द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में 'अनामिका' की प्रस्तुति "नये हाथ" को प्रथम पुरस्कार मिला १९५९ में। उसी वर्ष इस नाटक को उत्तर प्रदेश शासन ने भी पुरस्कृत किया। "नये हाथ" मेरा अत्यन्त लोकप्रिय नाटक सिद्ध हुआ। कई भाषाओं में अनूदित हुआ। देश के कोने-कोने मे मंचित हुआ। इसी नाटक से मुझे देशव्यापी ख्याति मिली- नाटककार के रूप में। उपन्यास-लेखन लगभग समाप्त हो गया। कभी-कभी कवितायें अवश्य लिखता रहता था, परन्तु पूरा ध्यान नाट्य लेखन पर ही देने लगा।

प्रश्न- 'नये हाथ' के बाद आपका कौन सा नाटक चर्चित-मंचित हुआ?

उत्तर- 'बर्फ की मीनार' । 'नये हाथ' के बाद मैंने कुछ विदेशी नाटकों के रूपान्तर किये थे, जो प्रकाशित भी हुये। मौलिक नाटक नहीं लिख पा रहा था। १९६४ ई० में "अनामिका" ने कलकत्ता में एक नाट्य-समारोह किया था। मैं उसमें सम्मिलित हुआ था। वहाँ भाई श्यामानन्द जालान और बहन प्रतिभा अग्रवाल ने मुझे नया-मौलिक नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया। उनकी शिकायत थी कि 'नये हाथ' के बाद मैंने मौन क्यों साध लिया? बहरहाल, कलकत्ता सें लौटकर मैंने नये नाटक के बारे में सोचना शुरू किया। कुछ पात्र दिमाग में थे। जिन्हें जीवन में देखा था। बस, कथानक का ताना-बाना बुना और एक सप्ताह में ही "बर्फ़ की मीनार" लिखकर पूरा कर दिया। नाटक १९६६ में छपा। काफी सराहा गया। अनेक नाट्य-मंडलियों नें उसका मचन किया। प्रादेशिक भाषाओं में अनूदित भी हुआ। आकाशवाणी द्वारा नाटको के अखिल भारतीय कार्यक्रम में प्रसारित हुआ। दूरदर्शन पर भी प्रदर्शित किया गया कई बार।

प्रश्न- विदेशी नाटकों के रूपान्तरों के बारे मे कुछ बतायेंगे?

उत्तर- अवश्य। 'ढोंगी' 'मोलियर' के नाटक का रूपान्तर है। 'छपते-छपते' और 'जनतंत्र जिन्दाबाद' रूमानियन नाटकों के रूपान्तर हैं। 'सराय के अन्दर'

जर्मन नाटक का रूपान्तर है। मेरा एक विशिष्ट नाटक 'सराय के अन्दर' जर्मन नाटक का रूपान्तर है। 'छपते-छपते' को छोड़कर शेष सभी भारतीय परिवेश के अनुसार ढाले गये हैं। ये सभी नाटक प्रकाशित एवं मंचित हो चुके है।

प्रश्न- आपने काव्य-नाटक और लोक शैली के नाटक भी तो लिखे है?

उत्तर- जी हाँ ! 'सूतपुत्र' काव्य-नाटक है। इसमें कर्ण के माध्यम से कुछ मूलभूत प्रश्न उठाये गये हैं। पुरुष कर्म से महान होता है या जन्म से?

कुँवारी माँ द्वारा नवजात शिशु का परित्याग आज भी हो रहा है। परित्यक्त शिशु जब किसी अन्य दयावान व्यक्ति द्वारा पाला-पोसा जाकर किशोर और युवा हो जाता है तब उसे कैसे-कैसे तीखे प्रश्न झेलने पड़ते हैं, कैसे-कैसे विशेषण सुनने पड़ते हैं, कैसी-कैसी यंत्रणा सहनी पड़ती है, इसका मार्मिक चित्रण कर्ण-कुन्ती संवाद के माध्यम से किया गया है। महाभारत कालीन नाटक "सूत-पुत्र" समसामयिक भी है। शायद इसकी प्रासंगिकता ही इसकी विशेषता है।

प्रश्न- नौटंकी के शिल्प का ज्ञान आपको कैसे हुआ? उसके विषय मे पुस्तकें पढ़कर अथवा . . .।

उत्तर- नहीं, भाई ! देखकर, सुनकर, गुनकर। देखिये, उत्तरप्रदेश के जनपद फरूखाबाद में एक कस्बा है- शम्साबाद। वहीं मेरा जन्म हुआ। वहाँ रामलीला बड़ी धूम-धाम से मनायी जाती थी। शाम को कस्बे से बाहर एक मैदान में रामलीला होती थी और रात को कस्बे के एक मन्दिर के विशाल प्रागण में नौटकी। दस दिनों तक यह क्रम चलता था। नौटंकी मंडली बाहर से आती थी। मेरे चाचा स्व० बुलाकी दास जी रामलीला कमेटी के अध्यक्ष थे। अतः मेरे लिए कहीं रोक-टोक नहीं थी। रात-रात भर जागकर नौटकी देखता था। दिन में मंडली के लोगों से बतियाता था। बाल्यकाल में नौटंकी-कलाकर मेरे लिए महान नायक थे। बालावस्था से ही मन में नौटंकी के प्रति रुझान था।

शम्साबाद और फरुर्खाबाद में शिक्षा ग्रहण करने के बाद मैं १६४० मे कन्नौज आया- इन्टर करने के लिए। वहाँ एक सहपाठी था विपिन मिश्रा नौटंकी सम्राट पं० त्रिभुवन का पड़ोसी। उसी माध्यम से त्रिभुवन जी के सम्पर्क

मे आया। उन दिनों उनकी नौटंकी-मंडली का बहुत नाम था। प्रसिद्ध नौटकी कलाकार सुश्री गुलाब बाई उनकी मंडली में थी। दो वर्ष कन्नौज में रहा। मेरे मन में नौटंकी के प्रति जो बाल-सुलभ रुचि जाग्रत हुई थी, वह त्रिभुवन जी के सानिध्य से पल्लवित हुई। नौटंकी-शिल्प का ज्ञान बढ़ा।

१९४२ में कानपुर आ गया। वहाँ, प्रसिद्ध नौटंकी लेखक एवं प्रस्तुतकर्ता श्रीकृष्ण पहलवान का सानिध्य मिला। कवि तो था ही, नौटंकी का छन्द-विज्ञान समझते देर न लगी।

१९५८ में भारत सरकार के गीत एवं नाटक प्रभाग ने लोक-नाट्य लेखन की अखिल भारतीय प्रतियोगिता आयोजित की। सोचा, एक नौटकी लिखी जाये। सों, ग्रामीण पृष्ठभूमि पर कर्म और पौरुष की गरिमा चित्रित करने वाली एक नौटंकी लिखी "भगीरथ के बेटे" और भेज दी। १९५९ मे परिणाम घोषित हुआ। "भगीरथ के बेटे" को पुरस्कार मिला।

१९६० में मैं इलाहाबाद आ गया- आकाशवाणी में नाट्य-निर्देशक के पद पर। उन दिनों नगर में रहने वाले प्रबुद्ध दर्शकों के मन में नौटंकी के प्रति बड़ी वितृष्णा थी। परम्परागत नौटंकी में फूहड़ता और अश्लीलता का समावेश हो भी गया था। मैंने नौटंकी के शिल्प पर आधारित कई नौटंकियॉ लिखी और आकाशवाणी की ओर से इलाहाबाद, लखनऊ, वाराणसी, गोरखपुर, जबलपुर, छतरपुर, रीवाँ, आजमगढ़, बस्ती आदि नगरों में प्रस्तुत की रेडियों-कलाकारों को लेकर। दर्शकों की सराहना मिली। उन्हे लगा नौटंकी के माध्यम से मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का सुरुचिपूर्ण चित्रण भी किया जा सकता है।

प्रश्न- ''भगीरथ के बेटे' के बाद आपकी अन्य चर्चित नौटंकियाँ कौन सी हैं?

उत्तर- "भगीरथ के बेटे' १९६५ में प्रकाशित हुई। उसके बाद मैने "नई लहर" लिखी। जिसके अनेक प्रदर्शन हुये। हमारे ही कलाकारों ने दिल्ली जाकर उसकी प्रस्तुति दूरदर्शन पर की। वह २६ जनवरी १९७६ को प्रदर्शित की गयी। "नई लहर" भी प्रकाशित हो गयी है। अन्य नौटंकियाँ अभी अप्रकाशित है। उनमें से कुछ काफी चर्चित और प्रशंसित हुई हैं- जैसे "तोता-मैना",

बटवारे की आग, 'नया सवेरा' और 'भरोसा बाहों का'।

प्रश्न- आपका पहला नाटक "आजादी के बाद" पुरस्कृत हुआ। पहली नौटंकी "भगीरथ के बेटे" भी पुरस्कृत हुई। क्या पहला एकांकी-संग्रह भी पुरस्कृत हुआ?

उत्तर- नहीं। पहला संग्रह तो पुरस्कृत नहीं हुआ, परन्तु अन्य संग्रह पुरस्कृत हुये है- "काले कौये-गोरे हंस" १९६१ मे, और "अपना-अपना दर्द" १९८४ में पुरस्कृत हुआ है। हाँ, पहला रेडियो-नाटक अवश्य पुरस्कृत हुआ।

प्रश्न- रेडियो-नाटक तो आपने आकाशवाणी में आने के बाद लिखे होंगे?

उत्तर- जी नहीं। आकाशवाणी में १९६० में आया। रेडियो नाटक पहले से ही लिखता था- लखनऊ केन्द्र के लिए।

प्रश्न- रेडियो-नाटक के बारे में बतायेंगे? यह क्या चीज है? सामान्य नाटकों से इसमें कुछ फर्क होता है?

उत्तर- १९५३ में आकाशवाणी दिल्ली ने अखिल भारतीय रेडियो-नाटक प्रतियोगिता आयोजित की थी। उसके लिए मैंने पहला रेडियो-नाटक लिखा- "अँधेरा, फिसलन और पॉव"। उसे पुरस्कार मिला। उसके बाद रेडियो-नाटक भी लिखने लगा जिनका प्रसारण लखनऊ केन्द्र से होता था। यह रेडियो की तकनीकी को ध्यान में रखकर लिखा जाता है।

प्रश्न- आकाशवाणी में कैसे आये? क्या आपने आवेदन-पत्र भेजा था। उस पद के लिए?

उत्तर- नहीं, आवेदन-पत्र नहीं भेजा था। उन दिनों आकाशवाणी के महानिदेशक थे प्रसिद्ध नाटककार स्व० जगदीश चंद्र माथुर। सूचना एवं प्रसारण मत्री सम्भवतः केसकर जी थे। इन लोगों की दृष्टि साहित्य और कला क्षेत्र की प्रतिभाओं पर रहती थी। उनकी नीति थी- हर क्षेत्र के प्रतिष्ठित लोगो और नयी प्रतिभाओं को आकाशवाणी से सम्बद्ध करने की। मेरा "नये हाथ" पुरस्कृत और चर्चित हो चुका था। "भगीरथ के बेटे" और "अँधेरा, फिसलन और पाँव" भी पुरस्कृत हो चुके थे। आकाशवाणी द्वारा आयोजित अर्न्तविश्वविद्यालयी रेडियो-नाटक-प्रस्तुति प्रतियोगिता में की, आगरा विश्वविद्यालय की ओर से प्रस्तुत हो चुके थे। माथुर जी का ध्यान मेरी ओर गया और उन्होंने मुझे दिल्ली बुलाया। मैं जाकर उनसे मिला। पहले उन्होंने दिल्ली दूरदर्शन

पर कार्य करने का प्रस्ताव रक्खा। मैं दिल्ली जाना नहीं चाहता था। मैंने प्रस्ताव विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। तब उन्होंने आकाशवाणी के जालंधर केन्द्र पर जाने की बात कही। मैं कानपुर छोड़कर उतनी दूर जाना नहीं चाहता था। मेरी दुविधा देखकर उन्होंने इलाहाबाद का प्रस्ताव रक्खा जिसे मैंने स्वीकार कर लिया, और इस तरह मैं ६-८-१६६० से आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र पर कार्य करने लगा।

उन्हीं दिनों माथुर जी ने स्व० मोहन राकेश से भी आकाशवाणी पर कार्य करने का अनुरोध किया था, परन्तु राकेश जी ने अस्वीकार कर दिया। तब कमलेश्वर जी इलाहाबाद आकाशवाणी में कार्यरत थे। माथुर जी ने उन्हे दिल्ली दूरदर्शन पर बुला लिया।

प्रश्न- आपके नाटक मंचित हुये हैं, पाठ्य-क्रम में भी लगे हैं? इस सफलता के लिए आप अपने नाटकों के किन तत्वों को मूल कारण मानते हैं?

उत्तर- मैंने अपने नाटकों में जन सामान्य की समस्याओं को ही चित्रित किया है। सामाजिक कुरीतियाँ, आर्थिक-सामाजिक शोषण, मनुष्य की दोहरी चरित्रिकता, झूठे आडम्बर, आदि विषय हैं मेरे नाटकों के। वैयक्तिक कुंठाओं, विकृतियों या यौन-कुंठा जन्य समस्याओं को कभी विषय वस्तु नहीं बनाया। शायद इसीलिए कुछ समालोचकों ने मुझे "पारिवारिक नाटककार" की संज्ञा दी है।

इसके अतिरिक्त, शिल्प के स्तर पर भी मैंने 'प्रयोग के लिए प्रयोग' कभी नहीं किये। बौद्धिक व्यायाम से सदा दूर रहा। सामान्य समस्यायें सहज शैली, सीधा-सादा मंच ! शायद इसीलिए नाटक खूब मंचित भी हुये, दर्शकों द्वारा सराहे भी गये और पाठ्य-क्रम में भी लगे।

प्रश्न- किसी समस्या का उदाहरण देंगे?

उत्तर- आज समाज की ज्वलंत समस्या है दहेज की। आये दिन बहुयें जलायी जा रही हैं। निर्धन व्यक्ति यही कामना करता है कि बेटी जन्म लेते ही मर जाती तो अच्छा था। दहेज दानव असंख्य परिवारों की सुख-शान्ति निगल रहा है। दहेज की समस्या पर मैंने एक एकांकी लिखा था- "बहू की विदा" १६५६ में। समस्या तब भी थी, पर इतनी वीभत्स नहीं जितनी आज है। एकांकी- बहुत लोकप्रिय हुआ। पहले 'धर्मयुग' में छपा था। बाद में

संग्रह मे आया। छोटा सा एकांकी है। कई शिक्षा-बोर्डों के पाठ्य-क्रम में यह एकांकी लगा है।

एक दूसरा एकांकी है- वैज्ञानिक परिकल्पना इसमें विज्ञान की ध्वंसकारी विकराल शक्ति के प्रति चेतावनी दी गयी है। विज्ञान का प्रयोग निर्माण के लिए होना चाहिए, यह संदेश है। यह एकांकी " मंगल, मानव और मनुष्य" भी कई जगह पाठ्य-क्रम मे लगा है।

संक्षेप में यही कह सकता हूँ कि मेरे नाटक और एकांकी आम आदमियों के लिए हैं, काफी हाउस में बैठकर निरर्थक बहसें करने वाले तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिए नहीं। शायद इसीलिए मुझे आम दर्शक और पाठ्क का स्नेह मिला है।

प्रश्न- मैं समझता हूँ, आप थोथी अखबारी चर्चाओं और गुटबाजियों से सदा अलग रहे। इसका क्या कारण है?

उत्तर- उत्तर तो आपके प्रश्न में ही छिपा है। जब चर्चायें थोथी है तो उनका मूल्य ही क्या? गुटबाजी वह करता है जिसके पाठक-दर्शक नही होते। गुटबाजी में होता क्या है? एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। जो उनके गुट का नहीं, उसका बहिष्कार ! मैं मानता हूँ, कि कविता और कहानी के क्षेत्र में व्याप्त यह दुर्नीति नाट्य-क्षेत्र में भी पनप रही है। निर्देशक, नाटककार और समीक्षक अपने-अपने गुट बना रहे हैं। इससे हिन्दी नाटक और रंगमच दोनो का ही अहित हो रहा है। शायद इसी गुटबाजी का यह परिणाम है कि कुछ निर्देशक और समीक्षक "अच्छे नाटकों के अभाव" का राग अलापते है। उनकी दृष्टि गुट के बाहर के नाटककारों की कृतियों की ओर जाती ही नहीं।

प्रश्न- आप नहीं मानते कि हिन्दी में अच्छे नाटकों का अभाव है? वैसे अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक छपते भी कम हैं?

उत्तर- नहीं ! मैं ऐसा नहीं मानता। पहले हमें यह तय करना होगा कि "अच्छे" की परिभाषा क्या है। कुछ लोगों की दृष्टि में अच्छा नाटक वह हैं, जो एब्सर्ड शैली में लिखा गया हो और जिसे बड़े से बड़ा बुद्धिजीवी भी न समझ सके। कुछ लोग समझते हैं कि अच्छा नाटक वह है जिसमें नारेबाजी हो जो किसी राजनीतिक विचारधारा से प्रतिबद्ध हो। कुछ लोगों की धारणा

है कि अच्छे नाटक में वैयक्तिक कुंठायें उजागर होनी चाहिए, दमित यौन-इच्छाओं से उत्पन्न विकृतियों का चित्रण होना चाहिए। मतलब यह कि हर व्यक्ति, समीक्षक, निर्देशक अपने चश्मे से नाट्य-कृति को देखकर "अच्छे-बुरे" का फतवा देता है। जो उनकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता वह बुरा है, स्तरहीन है, सतही है, अनुल्लेखनीय है। बताइये, भला यह भी कोई बात हुई।

प्रश्न- आपकी दृष्टि में "अच्छा नाटक" क्या है?

उत्तर- जिसका कथ्य जीवन की समस्याओं से जुड़ा हो। जिसकी शैली सहज हो, अपनी जमीन से जुड़ी। जिसका आनन्द हर वर्ग के लोग अपने-अपने स्तर पर ले सकें, वही अच्छा नाटक है। मनोरंजन हो, पर फूहड़पन न हो, अश्लीलता नहीं, सस्ता हो। शिक्षण हो, पर उपदेश नहीं ! नाटक, समस्या के प्रति दर्शकों, पाठकों को जागरूक करे, उसके समाधान के लिए उन्हें प्रेरित करे, वही अच्छा नाटक है। ऐसे नाटक लिखे भी जा रहे हैं- मंच के लिए, रेडियो के लिए, दूरदर्शन के लिए। हम नाट्य-साहित्य से रेडियों-नाटक और टी०वी० नाटक को बहिष्कृत नहीं कर सकते।

अब आइये ! नाटकों के अभाव की बात पर। होता यह है कि चर्चित निर्देशक अपने गुट के नाटककार का नाटक ही मंचित करता है। वह नये नाटककार की कृति नहीं उठाता। छोटे नगरों के निर्देशक भी उन्हीं नाटकों को उठाते हैं, जो महानगरों में मंचित, चर्चित हो चुके हैं। फलस्वरूप गिने-चुने नाटको का ही प्रदर्शन देश भर में होता रहता है। कारण बताया जाता है- "अच्छे नाटकों का अभाव है"। अगर निर्देशक नये नाटकों के मंचन का साहस करें तो समस्या हल हो जाये। नाटककार भी निर्देशक के साथ बैठकर विचार-विमर्श करे, पूर्वाभ्यास के समय उपस्थित रहे, दोनों मे समुचित ताल-मेल हो, तो कोई कारण नहीं है कि अच्छे नाटक का सृजन न हो सके।

प्रश्न- आप नाटककार और निर्देशक का ताल-मेल जरूरी समझते हैं?

उत्तर- जी हाँ ! जो नाटककार अपने लिखे हर संवाद को ब्रह्म-वाक्य समझते हैं, एक शब्द का हेर-फेर भी जिन्हें बरदाश्त नहीं है। उनकी कृति मच पर कदाचित् अधिक सफल न हो। इस प्रवृत्ति को मैं ठीक नहीं मानता। जो निर्देशक नाटक में इच्छानुसार काट-छाँट करना, मनचाहे परिवर्तन करना, अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं, उनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ। दोनों की सलाह से जो परिवर्तन-संशोधन होगा, वह कृति में चार चाँद लगा देगा। नाटक का लिखित रूप तो एक ढाँचा मात्र होता है। पूर्वाभ्यास के दौरान

उसका आकार बनना शुरू होता है, उसमें रंग उभरते हैं, और उसे पूर्णता प्राप्त होती है मंच पर। नाटक तो सामाजिक कला है, जिस का सम्पूर्ण परिष्कार नाटककार, निर्देशक, कलाकार और प्रेक्षक की सहभागिता से होता है।

प्रश्न- नाटककार के साथ-साथ आप निर्देशक भी है। आपकी दृष्टि में अच्छे निर्देशक के गुण क्या हैं?

उत्तर- निर्देशक वस्तुतः नाटककार के लिखित आलेख को व्यवस्थित करता है, शब्दों में निहित भावों को मंच पर क्रियाओं, गतियों, मुद्राओं और समूह आदि के द्वारा रूपायित करता है। वह शब्दों का अनुवाद क्रियाओं मे करता है कलाकारों के माध्यम से। अच्छे निर्देशक में सूझ-बूझ, कल्पनाशीलता, धैर्य, संयम आदि के साथ ही कलाकारों का विश्वास जीतने का गुण भी होना चाहिए। वही वास्तविक नेता है, अपने दल का।

कुछ निर्देशक तानाशाह होते हैं। वे कलाकारों को कोई स्वतंत्रता नहीं देते। चाहते हैं कि कलाकार उनके बताये हुये ढंग से ही संवाद बोलें, उठ बैठे। फलस्वरूप हर कलाकार उनकी कार्बन कापी बन जाता है। वह अपनी ओर से कुछ सोच-समझ नहीं पाता। इस शैली के निर्देशन को मैं ठीक नही समझता। मैं अपने कलाकारों को, नाटक और पात्रों के प्रति अपनी अवधारणा से परिचित करा देता हूँ। फिर उन्हें अपने-अपने पात्रों के बारे में सोचने-समझने का अवसर देता हूँ। इससे कलाकारों की कल्पनाशीलता बढ़ती है और पूर्वाभ्यास में कलाकार सहज ढंग से अपने-अपने पात्रों में ढलने लगते हैं। मैं विचार-विमर्श का स्वागत करता हूँ, मैं मानता हूँ कि अच्छा निर्देशक वही है जो हर कलाकार से उसका "सर्वोत्तम अभिनय" करवा सके।

प्रश्न- आप अभिनेता भी है ! आपका सर्वोत्तम अभिनय . . .?

उत्तर- सहज अभिनय ही सर्वोत्तम अभिनय है। मंच और रेडियो पर कई पात्र जिये। परन्तु सबसे अधिक लोकप्रिय पात्र रहा- "मुंशी इतवारी लाल"। इस धारावाहिक की १५० से अधिक किश्तें प्रसारित हुई थीं। निर्देशन के साथ-साथ मै मुख्य पात्र की भूमिका भी करता था। "हवा महल" के माध्यम से इस पात्र को देश-व्यापी ख्याति मिली। १५० से भी अधिक बार, एक ही पात्र का अभिनय करना बड़ा रोमांचक रहा। मैं उस रोमांच को कभी नही भूल सकता। श्रोताओं से असीम स्नेह और आदर मिला मुझे।

प्रश्न- अपनी रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे?

उत्तर- कोई निश्चित, रूढ़ रचना-प्रक्रिया नहीं है। कभी ऐसा होता है कि कोई समस्या या विचार उद्वेलित करता हूं। उसी के बारे में सोचता रहता

हूँ हफ्तों ! और तब उसके चित्रण के लिए पात्रों की कल्पना करता हूँ, घटनाओं का सृजन करता हूँ। यह प्रक्रिया दिमाग में ही होती रहती है। जब सब कुछ पक जाता है तब नाटक लिखना शुरू करता हूँ। कभी-कभी एकदम विपरीत होता है। पहले दिमाग में पात्र आये है- ऐसे पात्र, जिन्हें मैं समाज मे देखता हूँ, जिन पात्रों पर नाटक लिखना होता है, उनके लिए घटनाओं की कल्पना करता हूँ। ऐसी घटनायें, जो उन पात्रों के चरित्र की सभी तहे उद्घाटित कर सकें। नाटक के बारे में सोचने में ही अधिक समय लगता है। लिखने में अधिक समय नहीं लगता। लिखते समय लगता है, मैं स्वय दर्शक बनकर नाटक देख रहा हूँ . . . सुन रहा हूँ। पात्र सजीव होकर अपना नाटक करते हैं . . . मैं मात्र माध्यम होकर रह जाता हूँ।

प्रश्न- आजकल क्या लिख रहे हैं?

उत्तर- पिछले कुछ वर्षों में मैंने जितने भी नाटक लिखे हैं। वे सभी अपनी लोक-नाट्य-नौटंकी शैली में है। उन्ही को प्रस्तुत भी किया है। मेरी मान्यता है कि राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण विदेशी मंच की नकल करके नही हो सकता। हमारी अपनी शास्त्रीय एवं लोक-मंच की समृद्ध परम्परा है। उसी को आधार बनाकर जब नाटक लिखे और प्रस्तुत किये जाएंगे, तभी हम दर्शकों से जुड़ सकेंगे।

प्रश्न- हिन्दी रंगमंच को दूरदर्शन के नाटकों तथा धारावाहिकों से काफी क्षति पहुँची है। आपका इस बारे में क्या विचार है?

उत्तर- दूरदर्शन, रंगमंच का स्थान नहीं ले सकता। इन दोनों में कोई प्रतिद्वन्दिता नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दो-तीन नाटको में भाग लेकर, रगमंच के कलाकार दूरदर्शन की ओर भागते हैं- पैसे के लिए, देशव्यापी ख्याति के लिए। अब रंगमंच, माध्यम है दूरदर्शन के लिए . . . फिल्मों के लिए। फिर भी नाटक वो होते ही हैं। यदि रंगमंच, कलाकारों को पैसा और ख्याति दे सकें तो वे क्यों भागें? नाटककार भी मंचीय नाटक की अपेक्षा दूरदर्शन के लिए नाटक और धारावाहिक लिखना पसन्द करते हैं। मुख्य कारण है पैसा और नाम ! नाट्य संस्थाएं तो नाटककार से मच तक की अनुमति तक नहीं लेतीं, रॉयल्टी का पैसा देना तो दूर की बात है। प्रकाशक भी रॉयल्टी के हिसाब में घपला करते हैं। पाठक नाटक की पुस्तकें खरीदते नहीं। तब

कोई मंच के लिए नाटक क्यों लिखें?

मूलभूत कारण यह है जो नाटक और रंगमंच के विकास में बाधक हैं। यदि नाटककार और कलाकारों को रंगमंच पैसा और यश दे सके तो समस्या हल हो जाये। ऐसा तभी सम्भव है जब हम व्यावसायिक स्तर पर रंगमंच की स्थापना करें। अव्यावसायिक मंच न पैसा दे सकता है, न यश। फिर भी ऐसे समर्पित कलाकार हैं जो शौकिया नाटक करते रहते हैं। सम्भव है, ऐसे कलाकारो की लगन, निष्ठा और आस्था रंग लाये और रंगमंच का, दूरदर्शन की लोकप्रियता के बावजूद, उद्धार हो।

प्रश्न- साहित्य और कला के क्षेत्र में, सरकारी संस्थानों की पुरस्कार-सम्मान योजनाओं से आप संतुष्ट हैं?

उत्तर- पहले सम्मान या पुरस्कार-वितरण में धाँधली नही होती थी। उपयुक्त लेखक या कलाकार ही पुरस्कृत-सम्मानित किया जाता था। धीरे-धीरे, अन्य क्षेत्रों की भाँति, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार, गुटबन्दी, भाई-भतीजावाद पनपने लगा। अब पुरस्कार कृति पढ़कर नहीं, लेखक का नाम देखकर दिये जाते हैं। सम्मान उसी का होता है, जिसकी पहुंच हो। इसीलिए, अब इन पुरस्कारों-सम्मानों का उतना महत्व भी नहीं रहा। हाँ, आर्थिक-लाभ अवश्य हो जाता है। चाहे अकादमी हो, या हिन्दी-संस्थान, संस्कृति-विभाग हो या सांस्कृतिक केन्द्र सभी जगह नौकरशाही हावी है। शासकीय स्तर पर 'कल्चर' का विकास भी 'एग्रीकल्चर' की भाँति हो रहा है। यह तमाशे बन्द होने चाहिए। साहित्य और संस्कृति को अपने विकास के लिए शासन के आश्रय की जरूरत नहीं है। उनका विकास तो सहज गति से स्वतः ही होता है।

★ ★ ★ ★ ★